कर्म की गति न्यारी

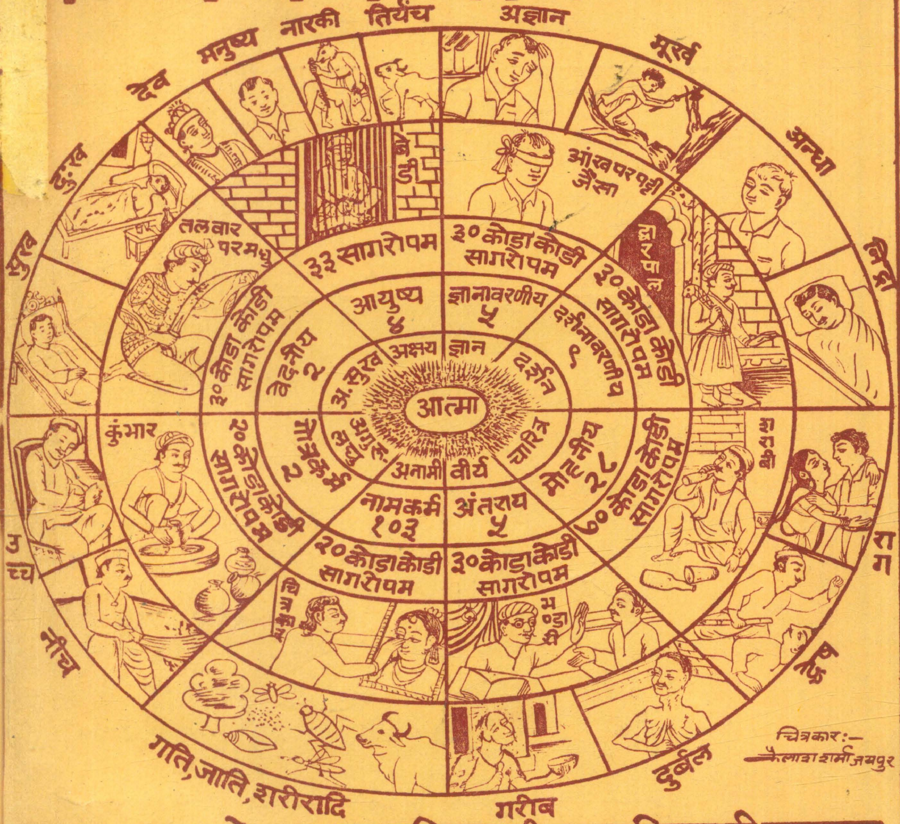

चित्रकार:- कैलाश शर्मा जयपुर

प्रवचनकार एवं लेखक:- प. मुनिराज श्री अरुणविजयजी महाराज

चातुर्मासिक रविवासरीय सचित्र व्याख्यानमाला

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ आत्मानंद सभा भवन, जयपुर.

आराध

आवृती : १०००

वचन-५

मूल्य : सदुपयोगार्थ १)

शुभ कामनाओं सहित :

श्री राजमलजी सिंघी के दत्तक पिताजी

धर्म प्रेमी, मैत्री भाव पूर्ण

स्व. श्री मूलचन्जी सा. सिंघी

सेवा निवृत्त पोस्ट मास्टर, भारत सरकार

जन्म : सन् १८७० निधन : २८-११-१९१९

पांचवा प्रवचन–५

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और क्षय

परम आदरणीय-वंदनीय दर्शनीय नमस्करणीय-स्मरणीय चरम तीर्थपति श्रमण भगवान श्री महावीरस्वामी के चरण कमल में नमस्कार पूर्वक ...

ज्ञानाद्विदन्ति खलु कृत्यमकृत्यजातं, ज्ञानाच्चरित्रममलं च समाचरन्ति ।
ज्ञानाच्च भव्य भविनः शिवमाप्नुवन्ति, ज्ञानं हि मूलमतुलं सकलश्रियां तत् ।।

ज्ञान की विशिष्ट महिमा बताते हुए महापुरुषों ने प्रस्तुत श्लोक में कहा है कि–कृत्य और अकृत्य अर्थात् करने योग्य क्या है और न करने योग्य क्या है इसका विवेक मनुष्य ज्ञान से ही प्राप्त करता है । ज्ञान से करणीय अकरणीय को जानता है । ज्ञान से ही निर्मल पवित्र चारित्र का आचरण किया जाता है । ज्ञान से ही भव्य जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं । ज्ञान ही सर्व प्रकार की श्री शोभा का मूल कारण है । जगत् की अतुल लक्ष्मी का मूल ज्ञान हैं । इस तरह ज्ञान की महिमा बड़ी भारी हैं । ज्ञान तीसरे नेत्र के समान है । जैसे सूर्य अपने प्रकाश से चमकता है वैसे जीव अपने ज्ञान से चमकता है । अतः ज्ञान भी दूसरे दिवाकर सूर्य के समान गिना जाता है । यह ऐसा आभूषण है कि जिसकी जगत् में कोई चोरी नहीं कर सकता । सोने हीरे के आभूषण की चोरी चोर कर सकते हैं परन्तु आत्मस्थ ज्ञान की चोरी कोई नहीं कर सकता । कुमत अन्धकार को दूर करने वाला ज्ञान है । ज्ञान जगत्चक्षु-लोचन गिना जाता है । भ्रम-संशयादि का निवारण ज्ञान से होता है । नीति रूपी नदी के निकलने का मूल पर्वत ज्ञान है । ज्ञान ही कषायों का शमन करने में समर्थ है । ज्ञान ही पाप निवृत्ति का मूल मन्त्र है । मन को पावन-पवित्र करने वाला ज्ञान है । चंचल मन को स्थिर करने में सहायक ज्ञान है । स्वर्गापवर्ग के सोपानों की सीढी रूप ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्ष तक पहुँचाने की सीढी है । इस तरह ज्ञान की महिमा अपरंपार है । जितनी महिमा गाएं उतनी कम ही है । यहां तक कहा है कि—

बहु क्रोडो वरसे खपे, कर्म अज्ञाने जेह ।
ज्ञानी श्वासोच्छवासमां, कर्म खपावे तेह ।।

अज्ञान दशा में जिन कर्मों को खपने में, क्षय होने में करोड़ों वर्ष लगते हैं उन कर्मों को ज्ञानी महात्मा श्वासोच्छवास परिमित काल में क्षय कर लेता है। अतः अज्ञान साधना कष्ट साध्य हैं। ज्ञान साधना सहज साध्य बननी चाहिए। ज्ञान-योग की गरिमा है। योग साधना साधक ने साध्य कर भी ली परन्तु उसमें ज्ञान नहीं आया तो वह साधना बिना सुगंध के पुष्प की तरह शुष्क बन जाती है। अतः करोड़ों भवों के संचित पाप कर्मों को ज्ञानी श्वासोच्छवास परिमित काल में क्षय कर सकता है। इसलिए दर्शनोपासना, चारित्राराधना, तपाराधना में यदि ज्ञान मिश्रित होता है, मिलता है तो सोने में सुगंध की तरह उसकी कीमत हजार गुनी बढ़ जाती है। अन्यथा ज्ञानाभाव में चारित्र साधना तथा तपाराधना आदि कष्टसाध्य बन जाती है।

ज्ञानी ज्यादा है कि अज्ञानी ?

समस्त संसार के जीवों का सर्वेक्षण किया जाय तो संसार में ज्ञानी ज्यादा मिलेंगे कि अज्ञानी ? सुखी ज्यादा मिलेंगे या दुःखी ? पापी ज्यादा मिलेंगे या पुण्य-शाली ? धर्मी ज्यादा मिलेंगे या अधर्मी ? उसी तरह मिथ्यात्वी ज्यादा मिलेंगे या सम्यक्त्वी ? आप को आश्चर्य होगा कि इन सब प्रश्नों के उत्तर में—अज्ञानी, दुःखी, पापी, अधर्मी, तथा मिथ्यात्वीयों की संख्या बहुत ज्यादा थी और है। ज्ञानी जगत् में गिने गिनाए मिलेंगे। सुखी पुण्यशाली तथा धर्मी एवं सम्यक्त्वी जीव भी संसार में गिने गिनाए ही मिलेंगे। यह संख्या बहुत अल्प है। अज्ञानियों की लम्बी-चौड़ी संख्या के सामने ज्ञानियों की संख्या नगण्य है। सीमित है। काफी अल्प है। इतना ही नहीं भूतकाल में भी बहुत अल्प थी वर्तमान में और भी ज्यादा घटकर अल्प हो गई है। तथा भविष्य में कभी भी धर्मियों की, ज्ञानियों की, सम्यक्त्वीयों की तथा पुण्य-शालियों की संख्या अधर्मी, अज्ञानी, मिथ्यात्वी या पापी जीवों से बढ़ने वाली भी नहीं हैं। न भूतो न भविष्यति, जैसी बात है। कर्मक्षय करने वालों की अपेक्षा कर्म बंध करने वालों की संख्या अनेक गुनी ज्यादा ही रही है। यह स्थिति त्रैकालिक है। तीनों काल में यही स्थिति रहती है। शायद आप सोचेंगे कि क्यों ? क्या कारण है ? कारण आंखों के सामने स्पष्ट प्रत्यक्ष ही है कि—पाप प्रवृत्ति जीवों की ज्यादा है। पापकर्म का बन्ध ज्यादा है अतः परिणाम क्या आएगा ? कर्म बंध के कारण जब कर्म उदय में आएगा तब आत्मा के ज्ञानादि गुणों का आच्छादन हो जाएगा। सारी प्रवृत्तियां कर्माधीन ज्यादा हो जाएगी। अज्ञान क्या है ? मिथ्यात्व क्या है ? आत्मा के ज्ञान गुण को ढकने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के कारण अज्ञान उदय में है। दर्शन मोहनीय कर्म के कारण यथार्थ श्रद्धा का गुण ढक गया, दब गया अतः मिथ्यात्व

अर्थात् विपरीत ज्ञानादि सामने व्यवहार में प्रचलित है। अतः ज्ञानादि की आत्म-गुणानुरूप प्रवृत्ति नहीं चल रही है। अपितु जीव ज्ञानावरणीय कर्म जन्य सारी प्रवृत्तियां कर रहा है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मावरणों से आत्मा के ज्ञानादि गुण ढक जाने के बाद जो अज्ञान–अल्पांश में ज्ञान की प्रभा-छाया जो प्रकट होगी उसी के आधार पर जीव प्रवृत्ति करेगा। उदाहरणार्थ तेजस्वी सूर्य जब बादलों से ढक जाएगा फिर क्या होगा ? जितनी आभा-जितना कम प्रकाश रहेगा जीव उसी में गति-आगति प्रवृत्ति करेंगे। ठीक उसी तरह ज्ञान गुण को जीव ने ही वैसे पाप कर्म करके ढक दिया है। अतः सारी विवेक दशा भूल गया। ज्ञानाचार धर्म भूल गया। अब उस पाप की सजा को भुगतता हुआ अज्ञानी, अविवेकी की तरह प्रवृत्ति करता है।

ज्ञानावरणीय कर्म बांधने की पाप प्रवृत्ति

पडिणीयत्तण निन्हव उवघायपओस अंतराएणं।
अच्चासायणाए आवरण दुगं जिओ जयइ ॥५४॥
तत्प्रदोषनिह्नव मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥६-१२॥

प्रथम कर्म ग्रंथ के ५४वें श्लोक तथा तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के ६-१२ सूत्र में ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म बांधने के आश्रव बताए गए हैं। कैसी-कैसी पाप प्रवृत्ति करने से जीव किस तरह ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय दोनों कर्म बांधते है ? वह प्रवृत्ति इसमें दर्शाई गई है। पडिणीयत्तण = प्रत्यनीकत्व-अनिष्ट आचरण करने से, अर्थात् ज्ञानवान् ज्ञानी महापुरुषों के प्रतिकूल आचरण करने से, उनके विपरीत व्यवहार करने से, ज्ञानी महापुरुषों के प्रति द्वेषभाव, या दुश्मनावटता की वैमनस्य भरी वृत्ति रखकर प्रत्यनीक अर्थात् शत्रुता रखने से जीव ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय दोनों कर्म बांधता है। निन्हव अर्थात्-अपलाप करना। किसी के पास पढ़कर भी मैं इनके पास नहीं पढ़ा हूँ यह छिपाने की अपलाप की वृत्ति निन्हव वृत्ति है। उसी तरह अमुक विषय को जानता हुआ भी मैं नहीं जानता। इस तरह ज्ञानी और ज्ञान दोनों को छिपाकर अपलाप करने वाला, तथा मृषावाद-असत्य सेवन करने से, झूठ बोलने से, उवघाय-उपघात-विनाश करने से, ज्ञान तथा ज्ञानियों का नाश करना, उन्हें नुकसान पहुँचाना, तथा ज्ञानोपकरण-साधन-पुस्तक, विद्या के साधन पाटी, पोथी, स्थापनाजी (ठवणी) सापडो, पेन-कलम, कागज, कापी, माला इत्यादि ज्ञान के जो उपयोगी उपकरण हों उनकी आशातना, या अनादर करने से ज्ञाना-वरणीय कर्म का बंध होता है, ज्ञान के साधनों के प्रति भी आदर-सद्भाव तथा रुचि पूर्वक विनय रखना चाहिए अन्यथा अनादर अविनय से भारी कर्म बंध होता

है, उसी तरह ज्ञानी महात्मा के प्रति भी अनादर असद्भाव या अविनय की वृत्ति नहीं रखनी चाहिए। पओस = प्रद्वेष वृत्ति–ज्ञान तथा ज्ञानोपकरण एवं ज्ञानी महात्मा के प्रति प्रद्वेष वृत्ति रखने से भी कर्म बंध भारी होता है। अखबार आदि पर बैठ जाना, बिछाकर सो जाना या अखबार या ज्ञान के अक्षर लिखे हो ऐसी कॉपी के पत्ते, पत्र-पत्रिका या पुस्तक के पत्तों में खाना, या उन पत्तों से बच्चे के मल-मूत्रादि साफ करना, या फाड़कर कहीं भी फेंक देने आदि से, तथा जलाना, कॉपी-पुस्तक-अखबार-पत्ते आदि जलाकर उपयोग में लाना इत्यादि से भारी कर्म बंध होता है। ज्ञानी विद्या दाता गीतार्थ गुरू आदि की आशातना उन्हें सताना, उनकी निंदा करना, उनकी अपकीर्ति करना, उनके बारे में विपरीत प्रचार करना या लिखना आदि प्रद्वेष वृत्ति से जीव भारी कर्म बंध करता है। अन्तराएणं–अन्तराय करना = विघ्न डालना. पढ़ने वाले को पढ़ने न देना, अभ्यास करने वाले के माया कपट से या ईर्ष्या बुद्धि से उसे पढ़ने न देना, काम करने के लिए कहना, उसकी पुस्तक-कॉपी आदि छिपा देना, फाड़ के फेंक देना, चुरा लेना, अभ्यासु को परेशान करना, इत्यादि रीत से पढ़ने वाले की पढ़ाई के बीच अन्तराय-विघ्न करने से जीव भारी ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन करता है। अच्चासायणाए–अति आशातना करनी, किसी ज्ञानी विद्वान की अत्यन्त ज्यादा आशातना करनी, हलके तरीके से उन्हें गाली देना, नीच कुल का कहना, उन पर हलके दोषारोपण करना, मात्सर्य वृत्ति से उनके खिलाफ प्रवृत्ति करना, उन पर कलंक लगाना, आरोप डालना, अभ्याख्यान तथा पैशून्य वृत्ति से दोष न होते हुए भी दोषारोपण करना यह ज्ञानी विद्वान की घोर आशातना से महाभारी पाप कर्म उपार्जन करता है। ज्ञानियों के प्रति मर्मच्छेदी बातें बनाना, या उनके आहारादि में मिलावट करना, या मारणान्तिक प्राणान्त कष्ट पहुँचाना, या किसी भी तरह उन्हें सन्ताप तथा मनोद्वेग पहुँचाना यह भारी पाप कर्म है। इसी तरह निषिद्ध देश-काल में-अकाल में अध्ययन करना, अधिकार न होते हुए भी शास्त्रादि पढ़कर अनधिकार चेष्टा करना, सूत्र-सिद्धान्त का अपलाप करके उल्टे अर्थ करना, उत्सूत्र प्ररूपणा करनी, किसी को भी गलत सलाह देकर उल्टे मार्ग पर ले जाना, शास्त्रों के अर्थ विपरीत समझाना, कुतर्क करके सिद्धान्तों को झूठे साबित करना, ज्ञानोपकर के प्रति अविनयी बुद्धि से पैर लगाना, थूंक लगाना, या अन्य गन्दी वस्तु से दूषित करना आदि अकाल-काल समय में पढ़ना, तथा ऋतुस्राव (m. c.) में पढ़ना-लिखना आदि, तथा पुस्तकों का तकिया बनाकर सोना, बैठना, ईर्ष्या वृत्ति से पुस्तक पढ़ने के लिए दूसरों को न देना, अपनी समझ शक्ति अच्छी होते हुए भी दूसरों को न समझाना, न सिखाना, विद्या को छिपाकर रखने से, न बताने से, न सिखाने से या गुप्त रखकर नाश

करने से या कुपात्र को देने से, तथा उदर पूर्ति के लिए धर्मग्रन्थ शास्त्रादि बेचकर आजीविका चलाने से, पस्ती-कचरे में बेच देने से, या शास्त्र ग्रन्थों की सुरक्षा न करने से, उन्हें दीपक आदि लगने से न बचाने से इस तरह अनेक तरीकों से ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण साधनों की आशातना करने से घोर ज्ञानावरणीय कर्मबंध होता हैं। जिसके परिणाम स्वरूप बड़ी भारी सजा भुगतनी पड़ती है।

ज्ञानावरणीय कर्म की सजा

तीव्र पापवृत्ति से उपरोक्त बताए हुए कारणानुसार यदि ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की आशातना आदि करके भारी ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन किया हो तो वह कर्म अपने निश्चित समय पर जरूर उदय में आएगा। जीव ने स्वयं कर्म बांधा है, उसकी स्थितिकाल अवधि नियत है अतः कर्म की उदय में आने की अवधि होते ही वह कर्म उदय में आएगा। पाप की सजा बड़ी भारी होती है। जैसे कर्म बांधे हैं वैसे फल सामने आएंगे। यह तो कर्म सिद्धान्त का नियम है कि— As you sow so shall you reap. जैसा बीज बोएंगे वैसा फल पाएंगे। बबूल बो कर आम के फल नहीं पा सकेंगे। आपको आम खाने की इच्छा है तो आप पहले से ही आम की गुठली बोइए तो आम खाने को मिलेंगे। जैसा करेंगे वैसा भरेंगे। यही कर्म सत्ता का नियम है। अतः यदि आपने ज्ञान-ज्ञानी की आशातना करके भारी पाप कर्म उपार्जन किया ही है तो उसकी सजा भोगनी ही पड़ेगी। ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव ही अज्ञान प्रदान करने का है। ज्ञान गुण को ढंकने का ही है। जैसे एक देखते हुए व्यक्ति की आखों पर पट्टी बांध दी जाय तो परिणाम क्या आएगा? वह देखने की शक्ति होते हुए भी नहीं देख पाएगा। अंधे की तरह दीवार के, लकड़ी के सहारे चलने की क्रिया करेगा। उसी तरह ज्ञानावरणीय कर्म जब उदय में आएगा तब उस जीव को पांच ज्ञानेन्द्रियों से विकल बनाएगा।

स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय (कान) इन पांचों ज्ञानेन्द्रिय की विकलता पैदा करेगा। इनकी शक्तियां क्षीण कर देगा या नष्ट भी कर देता है। परिणाम यह आता है कि कोई जन्म से ही अन्धा बनता है, मूक-मूंगा

बधिर-बहेरा, बनता है। किसी के कान ही नहीं बना है। किसी के नाक ही नहीं बना है। किसी के होठ नहीं बने है। किसी को सारी चमड़ी पर कुष्ट रोग है। तो किसी को खुजली है। कोई जन्म से ही मानसिक रोगी बनते हैं। बुद्धि नहीं मिलती या बुद्धि भारी कम मिलती है जिसके कारण या तो पढ़ाई में मन लगता ही नहीं है या पढ़ाई से जी उठ जाता है। पढ़ने की रुचि ही नहीं होती। या पढ़े तो समझ में ही नहीं आता या समझ में थोड़ा भी आता है तो याद नहीं रहता। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण स्मृति–स्मरणशक्ति–यादशक्ति नष्ट हो जाती है। मिलती ही नहीं। कईयों को एक अक्षर भी याद नहीं रहता। कईयों का दिमाग काम ही नहीं करता दिमाग का विकास ही नही होता। अविकसित दिमाग और बुद्धि मानसिक विकलता है। कई मूर्ख तथा पागल बनते हैं। कई मुख रोगी तथा देह रोगी बनते है। जिस डाल पर बैठा हो उसी डाल को काट रहा हो ऐसी मूर्खता देखने को मिलती है। या कालान्तर में ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो ऐसे रोग उत्पन्न होते हैं। मनुष्य लड़खड़ाता है, या बिस्तर में पड़ा रहता है। बेशुद्धि भी जीवन में आती है। बेभान अवस्था में पड़ा रहता है। किंकर्तव्य मूढ बन जाता है। विवेक दशा नष्ट हो जाती है। अविवेकी निरर्थक प्रलाप करने वाला बनता है। इस तरह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में आने से ऐसी विचित्र दशा बनती है। बड़ी भारी दुःखी तथा दयनीय स्थिति पैदा होती है।

पुस्तकादि जलाने का परिणाम

एक परिवार के बच्चे स्कूल पढ़ने जाते थे। बच्चे स्वभाव से शरारती होते हैं। पढ़ाई करने के बजाय शरारत की होगी और जब शिक्षक के पूछने पर कुछ भी नहीं आया तब शिक्षक ने थोड़ी सी पिटाई की। बच्चे रोते-रोते घर आए। मां ने देखा बच्चे रो क्यों रहे हैं? पूछने पर पता चला कि शिक्षक ने मारा है अतः रो रहे थे। मां को बड़ा गुस्सा आया– तेरा भला हो! बच्चे मेरे, मुझे प्यारे, और शिक्षक मारने वाला कौन होता है ? यह नहीं चलेगा। इतना कहते हुए मां ने बच्चों के हाथ से कॉपी-पुस्तक-पाटी-पेन सब लेकर रसोई घर में जलती सिगड़ी में डालकर जला दिया और बच्चों को कहा बैठ जाओ घर में, खुशी से खेलो, बस कल से स्कूल जाना ही नहीं। कुछ भी पढ़ना ही नहीं। छोड़ दो पढ़ना। खेलो-कूदो-मजा करो। यह सब कुछ चल ही रहा था कि पतिदेव घर में आए। उन्होंने यह देखा, उन्हें बड़ा भारी दुःख हुआ। पत्नी से कहा–अरे! तूने ये क्या कर दिया ? पुस्तकें जला दी। कॉपी-पाटी सब जला दिया। अब बच्चे पढ़ेंगे कहां से ? और मास्टर ने मार भी दिया तो क्या हो गया। उस कहावत को याद करो—"सोटी वागे चमचम तो विद्या

आवे रूमझुम"। हल्की सी लगा भी दी तो कौन सा बुरा कर दिया। यूं ही पढ़ेंगे।

पत्नी ने कहा–नहीं यह नहीं चलेगा। बच्चे मेरे हैं, दूसरे को मारने का अधिकार नहीं है।

पति–अरे हां ! बच्चे तो तेरे ही रहेंगे। यूं तो पढ़ाई के लिए मारना भी पड़ता है। तो विद्वान बनेंगे।

पत्नी–नहीं यह नहीं चलेगा। तो फिर आप ही घर में पढ़ाओ। बच्चे कल से स्कूल नहीं जाएंगे।

पति–अरे ! राम-राम ! मैं ही घर में पढ़ाने बैठ जाउंगा तो पैसा कमाने कौन जाएगा ? फिर रोटी कहां से खाएंगे ? इसलिए स्कूल जाने दे। पढ़ने दे। नहीं तो मूर्ख रह जाएंगे। फिर भविष्य में इन्हें अनपढ़ देखकर कोई कन्या नहीं देगा। शादी नहीं होगी। हमारे लिए जिन्दगी भर दुःख रहेगा।

आखिर पत्नी नहीं मानी। बच्चों को स्कूल नहीं जाने दिया। पढ़ने नहीं दिया। देखते ही देखते १५-२० वर्ष बीत गए। बच्चे अनपढ़ गंवार रह गए। अब शादी की बात आई। कोई कन्या नहीं दे रहा था। पति ने पत्नी से कहा ले–देख, अब सिर पर हाथ रखकर रोती रह ! बच्चों को मूर्ख रखे हैं अब क्या हालत होगी ?

पत्नी–तुम जानों तुम्हारे बच्चे जानें। मैं क्या करूं ? दोष तुम्हारा है तुमने क्यों नहीं पढाया ?

पति–अरे ! तू मेरे ऊपर दोषारोपण करती है ? मैनें तो पढ़ाने के लिए बहुत कहा था परन्तु तू जिद्द पर रही, तू ने पढ़ने नहीं दिया। पुस्तकें कॉपियां सब जला दी। और अब मुझे सुना रही है............पगली कहीं की।

पत्नी–पागल तुम................और पागल तुम्हारा बाप। मुझे पगली कहने वाले तुम कौन ? तुम जानों तुम्हारा नसीब जाने। मैं क्या करूं ? मेरा क्या कसूर है। गाली गलौच शुरू हो गई। पत्नी बड़ी विचित्र झगडालू थी उसने गालीयों की बरसात बरसाई। पति को गुस्सा आया। यह सब कुछ बर्दाश्त नहीं कर सका। पति ने पास में पड़ा हुआ पत्थर उठाया और पत्नि के सिर पर मारा, सिर फूट गया। खून की धारा बहने लगी। पत्नी मर गई। दूसरे जन्म में (पत्नी का जीव) वह गुण-मंजरी नामक कन्या के रूप में किसी के घर में जन्मी। गत जन्म की ज्ञान तथा

ज्ञानोपकरण-पाटी-पुस्तक-कॉपी आदि जलाने का परिणाम यह आया कि आज इस जन्म में वह जन्म से गूंगी–बहरी बनी। यह बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म की भारी सजा थी। उसी तरह पति का जीव भी दूसरे जन्म में किसी के घर में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। वरदत्त कुमार नाम रखा गया। वह भी जन्म जात गूंगा-बहरा। दोनों बड़े हुए, शादी कहां से हो ? जन्म जात निरक्षर भट्टाचार्य रहे। इस तरह बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म का भारी उदय जब सामने आता है तब सजा कैसी मिलती है ? आप जानते ही हैं कि पाप की सजा बड़ी भारी होती है, और कर्म की गति न्यारी होती है।

ज्ञानावरणीय कर्म का परिणाम

ज्ञान की आशातना, ज्ञानी की आशातना, ज्ञानोपकरण पुस्तकादि साधनों का इतना अनादर करना आदि अशुभ पाप प्रवृत्ति करने से यही सजा सामने आती है। बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म जब उदय में आते हैं तब उसकी सजा ठीक वैसी ही मिलती है। ज्ञान प्राप्त नहीं होता। बुद्धि पूरी अच्छी नहीं मिलती। ज्ञानेन्द्रियां पूरी प्राप्त नहीं होती। आंख से अन्धे हों, या आंखे कमजोर हों, आंखों से पूरा साफ दिखाई न दे, या आंखों के विविध रोग उत्पन्न हो, या काना-पन मिले। इस तरह आंखों की विकलता इस ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्राप्त होती है। उसी तरह मुख रोग होते हैं, मुख से पूरा बोला ही न जाय, तोतडा-बोबडा बने, अक्षर पूरे उच्चारित न हो, या सर्वथा बोल ही न सके वैसा गूंगा हो जाय, या टेढा-मेढा मुह मिले। या कर्ण रोगी हो। कानों से साफ सुनाई ही न दे, या बहरापन जन्म से मिले या बाद में आवे। ज्ञानतंतु पूरे खिले ही न हो, स्मरण शक्ति का अभाव होता है। पढ़ा हुआ याद ही न रहे, सुना–देखा हुआ याद न आवे। बुद्धि काम ही न करे। पढ़ने में रुचि ही न लगे, पढ़ाई कि इच्छा ही न हो। पढें तो निंद आवे, सिर दर्द करने लगे। पढ़ा हुआ सब भूल जाय, यादशक्ति बिल्कुल न हो, या चंचल वृत्ति वाला बनता है। अनपढ़ ही रह जाय। या थोड़ा पढ़कर आगे न पढ़ सके। मन्दमति बनता है। मानसिक रोगी बनता है। दिमाग से विकल बनता है। मूर्ख-पागल बनता है। अविचारी कार्य करने वाला बनता है। अज्ञानी बुद्धु बनता है। किंकर्तव्यमूढ बनता है। अविवेकी होता है। जिससे सारासार, हेय-ज्ञेय उपादेय का विवेक नहीं रहता। पांचों ज्ञानेन्द्रियां कम ज्यादा विकल प्राप्त होती हैं। शरीर के अंगोपांगादि पूर्ण संपूर्ण नहीं मिलते। सावयव सर्वांग सम्पन्न नहीं बनता। न्यूनाधिक अंगोपांग से कुरूप भद्दा बनता है। लोक में निंदनीय बनता है। विद्या चढ़े ही नहीं।

अशिक्षित एवं असभ्य वर्तन वाला बनता है। कर्कश खराब भाषा बोलने वाला बनता है। गाली-गलौच की गंदी भाषा बोलने वाला होता है। ज्ञान-ज्ञानी के प्रति अविनयी-अनादर वृत्ति वाला बनता है। इस प्रकार ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण आदि की घोर आशातना पूर्वक अशुभ पाप वृत्ति तथा प्रवृत्ति से उपार्जित किये हुए ज्ञानवरणीय कर्म के उदय में आने से अन्ध-मूक-बधिर आदि के रूप में दु:ख सामने आता है। जीव वैसा बनता है। किये हुए कर्मानुसार फल भोगता है।

पांच ज्ञान के पांच ज्ञानावरणीय कर्म

आत्मा अनन्त ज्ञानमय है, जहां-जहां आत्मा है वहां-वहां ज्ञान निश्चित है भले ही वह अल्प या अधिक प्रमाण में हो। पर आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान रहित नहीं है।

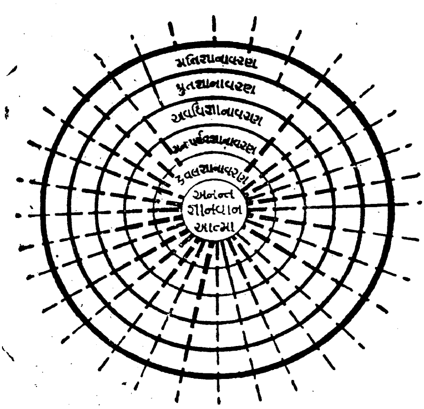

परन्तु ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की आशातना-विराधना करके जीव ने खुद ने जो ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन किये हुए होते हैं उसके परिणाम स्वरूप आत्मा का ज्ञान गुण ढक जाता है, दब जाता है। जिसके कारण ज्ञान गुण प्रकट नहीं होता। पांच प्रकार के ज्ञान है तो पांचों प्रकार के ज्ञानों के आवरक-आच्छादक पांच प्रकार के कर्म है। अतः कर्म किसी अलग स्वतंत्र नाम से नहीं पहचाने जाते परन्तु आत्मा के उन गुणों के आच्छादक आवरक के रूप में ही पहचाने जाते हैं।

(१) मतिज्ञान का आवरक—**मतिज्ञानावरणीय कर्म।**
(२) श्रुत ज्ञान का आवरक—**श्रुतज्ञानावरणीय कर्म।**
(३) अवधिज्ञान का आवरक—**अवधिज्ञानावरणीय कर्म।**
(४) मन:पर्यवज्ञान का आवरक—**मन: पर्यव ज्ञानावरणीय कर्म।**
(५) केवलज्ञान का आवरक—**केवलज्ञानावरणीय कर्म।**

इस तरह पांच ही ज्ञान के प्रकार हैं अत: पांचों ज्ञान के आवरक-आच्छादक (ढकनेवाले) पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म है। ये पांचो ही ज्ञानावरणीय कर्म अपने अपने ज्ञान को ढ़कने का कार्य करते हैं। चित्र में बताए अनुसार आत्मा जो कि अनन्त ज्ञानवान है उस पर पांच आवरण रूप परदे चारों तरफ से डाले जाये। जैसे एक तेज लाइट के गोले पर यदि

पांच परदे डाल दिये जाय तो उन परदों में से कितना प्रकाश बाहर निकलेगा ? ठीक उसी तरह आत्मा के अनन्त ज्ञान गुण को इन पांच परदों (आवरणों) ने ढक दिया है, अब कितना ज्ञान (प्रकाश) उन परदों (आवरणों) के बाहर निकलेगा ? अल्प अंश मात्र ही निकल पायेगा। जो परदे जितने जाडे मोटे होंगे वह ज्ञान (प्रकाश) उतना ही ज्यादा सर्वथा ढक जाएगा, दब जाएगा। अतः आज हमारा अवधिज्ञान-अवधिज्ञानावरणीय कर्म से सर्वथा दब ही गया। परिणाम स्वरूप हमें यहां बैठे हुए मन और इन्द्रियों की मदद के बिना दूर सुदूर का कुछ भी नहीं दिखाई देता। उसी तरह मनःपर्यवज्ञान भी मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म से सर्वथा दब चुका है, ढक ही गया है। जिसके कारण आज हम किसी के मन की बातें अंश मात्र भी जान नहीं पाते। कौन क्या सोच रहा है ? कौन किसके बारे में क्या विचार कर रहा है ? इत्यादि हम कुछ भी नहीं जान पा रहे हैं। उसी तरह आज हमारा केवलज्ञान जो आत्मा में पड़ा है वह भी केवलज्ञानावरणीय कर्म से सर्वथा ढक गया है। सर्वथा दब चुका है। जिसके कारण आज हम अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त द्रव्यों को, उनके अनन्त धर्मों को तथा अनन्त पर्यायों को यहां बैठे नहीं जान सकते। नहीं समझ सकते। अतः यह प्रत्यक्ष अनुभव से निश्चित हो गया कि आज हमारे में ये तीनों आवरणीय कर्म पूरे उदय में है। चूंकि बांधे हुए हैं ये कर्म शास्त्र में सर्वघाती प्रकृति के रूप में गिने गए हैं। जिन्होंने इन कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया हो उन्हें वे ज्ञान संपूर्ण रूप से प्रकट होते हैं। सब कुछ साफ साफ दिखाई देता है। जानकारी में आता है। परन्तु कर्म के उदय वाले को अंश मात्र भी नहीं दिखाई देता।

मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान को ढकता है। तथाप्रकार के पाप करके ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की जो भी आशातना विराधना की हो उससे जो मति-ज्ञानावरणीय कर्म बांधा हो, उसके उदय में आने से मतिज्ञान का क्षयोपशम नहीं बढ़ता। मति की मंदता मिलती है। ज्ञानेन्द्रियां पूरी नहीं मिलती या कमजोर मिलती है। ज्ञानेन्द्रियां पूरा काम नहीं करती। स्मरण शक्ति नहीं बढ़ती। पढ़ने की रुचि भी न होवे। और पढ़े तो याद न रहे। इत्यादि कई प्रकार के मतिज्ञानावरणीय कर्म के उदय होते हैं। जितने मतिज्ञान के प्रकार हैं उतने ही मतिज्ञानावरणीय कर्म के प्रकार होंगे। निश्चित ही है कि उपार्जन किया हुआ मतिज्ञानावरणीय कर्म उदय में आने पर उस उस प्रकार का मतिज्ञान ढक जाएगा। अतः मतिज्ञान के कुल भेद ३४० हैं तो ३४० प्रकार का मतिज्ञानावरणीय कर्म भी बनेगा। तथा जो इनमें से जो जीव जितने कर्म बांधेगा वह उतने प्रकार से मतिज्ञान का आवरण अनुभव करेगा। उदाहरणार्थ स्पर्शेन्द्रियावग्रह मतिज्ञान, श्रवणेन्द्रिय धारणा मतिज्ञान, बहुविध धारणा घ्राणेन्द्रिय मतिज्ञान, वैनयिकी बुद्धि मतिज्ञान आदि मतिज्ञान के ३४० भेद इस तरह होते हैं। जिसे संक्षेप में निम्न तालिका से समझ सकते हैं :—

मतिज्ञान के ३४० भेद की तालिका

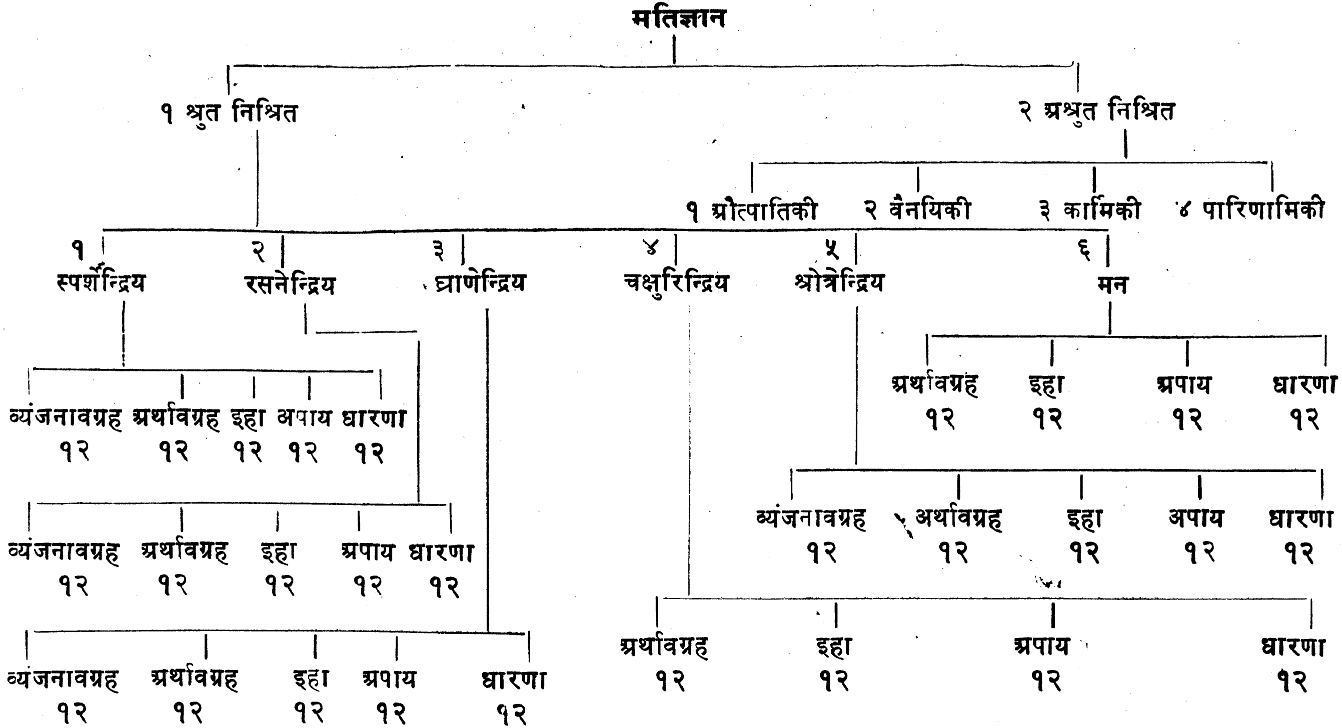

बारह इस प्रकार है—(१) बहु, (२) अबहु, (३) बहुविध, (४) अबहुविध, (५) क्षिप्र, (६) अक्षिप्र, (७) अनिश्रित, (८) निश्रित, (९) असंदिग्ध, (१०) संदिग्ध, (११) ध्रुव, (१२) अध्रुव। ५ इन्द्रियां तथा १ मन = ६, ६ के अर्थावग्रह–इहा–अपाय–धारणादि मिलाकर ६ × ४ = २४, + ४ व्यंजनावग्रह = २८, बहु–अबहु आदि १२ अतः २८ × १२ = ३३६ + अश्रुत निश्रित के ४ भेद बुद्धि के मिलाकर = ३४० भेद होते हैं।

इस तरह मतिज्ञान के ३४० भेद कुल होते हैं, उन प्रत्येक पर आवरण आने से उतने ही (२४०) भेद मतिज्ञानावरीय कर्म के होते हैं। ज्ञान क्षयोपशम के आधार पर उदय में आएगा और कर्म के उदय से ढक जाएगा।

"श्रुतं मति पूर्वकं" सूत्र के नियमानुसार श्रुत ज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। चूंकि श्रुतज्ञान में पढ़ने, लिखने, श्रवण करने, विचारने आदि में पांचों इन्द्रियां तथा मन तो वे ही उपयोग में आते हैं जो कि मतिज्ञान में प्रयोग में आते हैं। अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। इसलिए मतिज्ञान के क्षयोपशम के साथ श्रुतज्ञान का भी क्षयोपशम बढेगा। इस तरह ये दोनों साथ रहते हैं। परन्तु यह भी है कि मतिज्ञानावरणीय कर्म बढेगा तो श्रुतज्ञानावरणीय कर्म भी बढेगा। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हुए भी उसके अपने स्वतंत्र प्रकार हैं। श्रुतज्ञान के १४ तथा २० भेद भी होते है। जो पहले दर्शाए गए हैं। उतने ही उनके आच्छादक-आवरक श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद होते हैं। श्रुतशास्त्रादि की विराधना, ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की आशातना तथा विराधना से जीव तथा प्रकार का श्रुतज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन करता है। परिणाम स्वरूप अज्ञान, बुद्धिहीन मूर्ख, मन्दमति, तथा विस्मरण शक्ति वाला बनता है। इस संबंधि एक रसिक दृष्टान्त इस प्रकार है—

१२ घडी के १२ वर्ष हुए

अच्छे अच्छे ज्ञानी विद्वान भी किस तरह भारी ज्ञानावरणीय कर्म बांध लेते हैं उसका एक प्रसंग इस प्रकार है—पाटलीपुत्र नगर में दो भाईयों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। जैन साधु बने। एक भाई की बुद्धि बड़ी तेज थी अतः ज्ञान अच्छा चढ़ता था। क्षयोपशम काफी अच्छा होने के कारण अभ्यास में रुचि अच्छी रहती थी। काफी पढ़ते गए। कुछ वर्षों में अच्छे विद्वान बन गए। ५०० शिष्य उनके हो गए। गुरू महाराज ने आचार्य पद से विभूषित किया। बहुश्रुत ज्ञानी गीतार्थ बने। दूसरी तरफ दूसरा भाई मन्दमति था। ज्ञानाभ्यास की रुचि नहीं जगती थी। आहार-पानी गोचरी लाकर खा-पीकर मस्त सोता रहता था। प्रमादी जीवन बन गया था।

आचार्यश्री की समझाने की कला एवं ज्ञान की उपस्थिति तथा स्मरण शक्ति काफी अच्छी थी। परिणाम स्वरूप कई अन्य जिज्ञासु लोग भी समझने के लिए आते थे। प्रश्न पूछते थे। सूरिजी अच्छी तरह समझाते थे। शिष्यों तथा जिज्ञासुओं को

बहुत ही अच्छा संतोष मिलता था। अन्य सम्प्रदाय एवं समुदाय के जिज्ञासु भी आते थे। इस तरह सूरिजी का सारा दिन पठन-पाठन एवं प्रश्नोत्तरी में ही बीत जाता था। यहां तक कि भोजन एवं नींद के लिए भी पर्याप्त समय नहीं मिल पाता था। सूरिजी दिन भर थके-थके रहते थे। दूसरी तरफ दूसरे भाई महाराज खा-पीकर मस्त रहते थे। न कोई चिन्ता थी और न ही कोई चिन्तन था। कहा है कि "निद्रा कलहविनोदेन च कालो गच्छति मूर्खाणाम्"। मूर्ख मनुष्यों का काल या तो नींद में बीतता है या कलह-कंकास से बीतता हैं या विनोद-हंसी-मजाक में समय बीतता है। जबकि विद्वानों का काल—"ज्ञान-ध्यान-चिन्तनेन कालो गच्छति धीमत म्"-ज्ञान-ध्यान और शास्त्र सिद्धान्त के चिन्तन में बुद्धिमान विद्वानों का काल बीतता है। इस तरह दोनों भाई महाराजों का काल व्यतीत हो रहा था।

सज्जन का संग जल्दी लगता है या दुर्जन की संगत में रंग जल्दी लगता है? यह जगत् में प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। सज्जन या संत समागम का सत्संग जितना जल्दी रंग नहीं लगता शायद उससे भी ज्यादा दुर्जन का संग रंग जल्दी लगता है। ऐसा ही हुआ पढ़े-लिखे विद्वान ज्ञानी गीतार्थ आचार्य महाराज अपने भाई को देखकर विचार करने लगे—ओ हो! ये देखो—कितना मस्त है? खा-पीकर-आराम से सुख-चैन से सोता हुआ कितना सुखी है? है कोई चिन्ता या है कोई चिन्तन? देखो कितना अलमस्त है? कितना मोटा तगड़ा है? अरे रे! और मैं कितना दुबला-पतला हूं? मैं कितना दुःखी हुँ? न तो पूरा खाने-पीने का समय मिलता है, और न ही सोने के लिए पर्याप्त समय मिलता है। क्या करूं? कितना दुःख है? पर यह सब किस कारण है? अरे........रे........! मैं खूब ज्यादा पढ़ा हूं इसके कारण है? अरे........रे! काश! अच्छा होता कि मैं भी पढ़ा ही नहीं होता। "मूर्खत्वं हि सखे ममापि रुचित..........."। यह एक श्लोक आचार्य श्री के स्मृति पटल पर आया, और सोचने लगे ऐसा मूर्खपना मुझे भी मिले। मैं भी मेरे भाई की तरह खा-पीकर मस्त रहूं। इस तरह अच्छे विद्वान को भी दुर्मति सूझी........और अपने इस निर्णय को आचरण में लाने के लिए सुबह-सुबह आचार्यश्री जंगल जाने के बहाने उपाश्रय से अकेले ही निकल गए। गांव के बाहर दूर एक नदी के किनारे गए। निपट कर वहां समीप में चल रहे एक महोत्सव को देखने गए।

नदी किनारे ग्रामीण लोगों का वसन्तोत्सव इन्द्र महोत्सव चल रहा था। हजारों लोग गांवों से आए थे। साथ में फल-नैवेद्य लाए थे। मध्य में गडे एक लम्बे स्तंभ को सजाया गया था। उस पर फल-नैवेद्य चढाकर, ढोल बजाते हुए उस स्तंभ

के इर्द-गिर्द चारों तरफ घूमते थे—नाचते थे। इस तरह सुबह से लेकर शाम तक सारा दिन नाचते रहे। आचार्यश्री भी उन्हें देखकर प्रसन्न थे। सोचते थे—वाह! अनपढ़ होते हुए भी ये कितने खुश हैं। इस तरह स्वयं दिनभर सोचते रहे। सूर्यास्त होते ही सभी गाँव वाले फल-नैवेद्य को प्रसाद रूप से लेकर खा-पीकर घर लौट गए। वहां कोई भी नहीं था। उस स्तंभ के ऊपर कौआ आकर बैठा और काँव-काँव चिल्लाने लगा।

वह दृश्य देख रहे आचार्य के मन में आश्चर्यकारी परिवर्तन आया। सोचते ही रह गए। अरे! अभी थोड़ी देर पहले इस स्तंभ की कितनी कींमत थी? क्या मान-सम्मान था? और अब सब चले गए, कोई नहीं है तो अकेले इस स्तंभ को कौन पूछता है? कौआ काँव-काँव करता है। अकेला एक होते हुए इस स्तंभ की शोभा हजारों लोगों से थी। उसी तरह मेरी कींमत कब तक थी? मुझे आचार्य कौन कहता था? मुझे बडा कौन मानते थे? अरे........हो! ५०० शिष्य मुझे आचार्य गुरूदेव कहते थे। मुझे पूजते थे। आखिर क्यों? मेरे में ज्ञान है, विद्वता है। अतः पूजते थे, मान-सम्मान देते थे। आज मैं अकेला यहां आया हूँ। अब मुझे आचार्य कौन कहेगा? "विद्वान सर्वत्र पूज्यते" की कहावत उन्हें याद आई। ओहो! मैं विद्वता के कारण पूजनीय था। अतः मेरी नहीं ज्ञान की महिमा अपरंपार है। अरे रे.......! मुझे ऐसे खराब विचार क्यों आए? मैं क्षमा चाहता हूँ........मिच्छामिदुक्कडं कहते हुए वे पुनः शाम को उपाश्रय आए। पुनः शिष्यों को पढाने में लीन हो गए। ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय-चिन्तन एवं प्रश्नोत्तरी में लीन हो गए। काल बीतता गया। आयुष्य समाप्त हुआ। निर्मल चारित्र के आधार पर स्वर्ग में गए।

स्वर्ग से च्युत होकर वे इसी धरती पर एक ग्वाल के घर पुत्र रूप से जन्मे। युवावस्था में साधु, संत महात्माओं का समागम हुआ। सत्संग का रंग लगा। मुनि महात्मा के वैराग्योपदेश से वासित मन वाले हुए। शुभ दिन मुनिमहात्मा के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर साधु बने। गुरू महाराज के पास पाठ लेकर अच्छी तरह पढने लगे। क्षयोपशम और शक्ति इतनी अच्छी थी कि रोज के ५०-१०० श्लोक कंठस्थ करना उनके लिए खेल की बात थी। खूब होशियार बुद्धिमान एवं तेज स्मृति वाले तेजस्वी थे। पढते ही गए। पूर्व जन्म का ज्ञान का क्षयोपशम और संस्कार काफी अच्छे उदय में आए परिणाम स्वरूप काफी अच्छी तरह पढ़ते गए।

कर्म के उदय की स्थिती

पूर्व जन्म में आचार्य महाराज के भव में १ दिन में जो भारी ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जित किया था, वह आज इस जन्म में उदय में आया। कर्म उदय में

आते ही यहां पाठ करने में एकाएक फरक पड़ गया। गुरुजी ने रोज की भांति पाठ दिया --परन्तु पाठ हो नहीं पाया। स्मृति काम ही नहीं कर रही थी। १ दिन बीता, गुरुजी ने कहा --पाठ हो गया ? शिष्य ने कहा — जी नहीं। २ दिन बीते, ३ दिन बीते। पाठ याद नहीं हुआ। बुद्धि के ऊपर ज्ञानावरणीय कर्म के बादल छा गए। कर्म के उदय में आने के कारण यह स्थिति खड़ी हो गई। ४-६ दिन बीतने के बाद गुरु महाराज समझ गए कि भारी ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आया है ऐसा लगता है। इसलिए गुरु महाराज ने शिष्य को कहा—देखो भाई ! कोई भारी ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आया हो ऐसा लगता है, अतः तुम आयंबिल की तपश्चर्या निरन्तर करते हुए इस कर्म को खपाओ। और साथ ही ज्ञान की उपासना भी करते जाओ निरन्तर पाठ भी करते जाओ। जिससे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होगा और ज्ञान बढेगा। शिष्य ने यह बात स्वीकार की। गुरुजी ने पाठ दिया — "मा रूष-मा तुष" बस पाठ के इस सारभूत तत्त्व को याद करते जाओ। साथ ही गुरुजी ने अर्थ भी समझाया "मा रूष = किसी पर भी रोष (द्वेष) न करो, मा तुष = किसी पर भी तुष-तोष (राग) नहीं करना। जैन शासन एवं मोक्ष मार्ग का यही एक मात्र सार है कि राग द्वेष न करना। वितराग बनने के लिए राग द्वेष नहीं करना चाहिए। राग द्वेष ही कर्म के कारण है, एवं भाव कर्म है। यह बात शिष्य के दिमाग में बैठ गई। शिष्य ने इस पाठ को मन्त्रवत् समझकर पाठ करना प्रारम्भ किया। लेकिन कर्म का उदय बहुत भारी होने से **"मा रूष-मा तुष"** इतने शब्द भी सही याद नहीं हो रहे थे। इसके बजाय **माष-तुष** ऐसा पाठ याद हो रहा था। अर्थात् **"मा रूष-मा तुष"** इन शब्दों में से 'रू' और 'मा' ये अक्षर भूल जाते थे। अतः माष-तुष मुंह से निकलता था। श्रुतज्ञान के १४ या २० भेदों में अक्षर श्रुत, पद श्रुत आदि के जो भेद बताए गए हैं। उन्हीं के ऊपर श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण आ जाने से अक्षर, पद, सूत्र, अर्थ याद नहीं रहते विस्मृत हो जाते हैं। कितनों को अर्थ याद रहता है तो सूत्र याद नहीं रहता। इससे उल्टा कितनों को सूत्र याद रहता है तो अर्थ याद नहीं रहता। इसी तरह कितनों को अक्षर या शब्द कहने पर भी पूरा पद या श्लोक याद नहीं आता। कितनों को पूरा पद याद आने पर भी अर्थ याद नहीं आता। कितनों को उसी पद का यह अर्थ है यह निश्चयपूर्वक याद नहीं आता। सूत्र किसी का और अर्थ किसी का ऐसा भ्रांतिपूर्वक याद आता है। कितनों की स्मरणशक्ति तेज होती है अतः उन्हें सूत्र या पद आदि याद रहते हैं। परन्तु समझशक्ति कम होने से अर्थ समझ में नहीं आता। ठीक इससे विपरीत कितनों की समझशक्ति तेज होने से अर्थ, भावार्थ आदि अच्छी तरह समझ में आते हैं। परन्तु सूत्र या पद उनको याद नहीं रहते, दिमाग में नहीं बैठते।

यह सारा मतिश्रुतज्ञानावरणीय कर्म का नाटक है। प्रस्तुत प्रसंग में शिष्य की भी यही स्थिति थी। उन्हें गुरु के द्वारा बताया हुआ अर्थ याद रह गया। परन्तु सूत्र-पाठ याद नहीं रहता था। परिणाम यह आया कि शिष्य के मुंह से सतत **"माष-तुष", "माष-तुष"** ऐसे ही शब्द निकलते थे। गुरुजी को पाठ सुनाते समय ऐसे ही बोलते थे। फिर से गुरुजी रहे हुए दो अक्षर **'रू'** और **'मा'** पुनः बैठाकर **"मा रूष-मा तुष"** ऐसा पाठ सिखाते थे। परन्तु कमनसीब शिष्य को ज्ञानावरणीय कर्म के कारण इतना भी याद नहीं रहता था। और **"माष-तुष", "माष-तुष"** इस तरह रटते थे।

भारी कर्म उदय में होने पर भी शिष्य निराश नहीं होते थे। किसी भी तरह पाठ करने का भाव रखते थे—इसलिए गोचरी-पानी आदि कार्यों में आते-जाते हुए निरन्तर पाठ याद करते रहते थे। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इन दो शब्दों को पाठ करने के लिए शिष्य ने बारह वर्ष बिताये। साथ ही साथ कर्म क्षय हेतु बारह वर्ष तक आयंबिल की तपश्चर्या जारी रखी।

भिक्षा के समय आहार पानी लेने के लिए जाते समय भी सतत **"माष-तुष", "माष-तुष"** ऐसा रटते जाते थे। गृहस्थ लोक भी उनके मुंह से निकलते हुए पाठ के शब्दों के आधार पर माषतुष नाम से पुकारने लगे। परिणाम स्वरूप महाराज का नाम ही माषतुष मुनि पड़ गया। लोक माषतुष मुनि आये, माषतुष मुनि आये ऐसा कहते थे। **माष-तुष** का एक ऐसा विचित्र अर्थ भी लोगों ने निकाला कि **माष** अर्थात् उडिद, **तुष** अर्थात् उसके छिलके अतः **माष तुष** अर्थात् उडिद के छिलके वाली दाल ऐसा लोगों ने समझकर महाराज को भिक्षा में उडिद की दाल वहेराना शुरू किया और दूसरी तरफ महाराज **"माष-तुष"** ही रटते जाते थे इसलिए लोगों को भी ऐसा लगता था कि महाराज को उडिद की दाल ही पसन्द है। इसलिए वहेराते थे।

परन्तु यह महाराज को अभिप्रेत नहीं था। उडिद की दाल उनके स्वास्थ्य के लिए प्रतिकूल थी। फिर भी निस्पृह साधु थे। अतः तपोभाव में स्थिर रहकर इच्छा निवृत्ति पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते थे। लोगों की तरफ से मान-अपमान भी सहन करते थे। एक ही धून थी कि मैं किसी तरह कर्मों का क्षय करूं। इस हेतु से **"मा रूष-मा तुष"** पाठ याद न होते हुए भी अर्थ जो स्मृति में सही बैठा हुआ था उस अर्थ को अपने लक्ष्य में सन्मुख रखकर अर्थ के आधार पर आत्मा को समझाते थे।

हे आत्मन् ! तुझे न तो किसी पर राग करना है, न किसी पर द्वेष करना है। यही पाठ का सही अर्थ है। सूत्र से पाठ याद नहीं है परन्तु अर्थ से पाठ विस्मृत भी नहीं है। महात्मा ने अर्थानुसारी जीवन ही बना दिया था। पाठ का अर्थ केवल स्मृति में याद रखना ही नहीं होता है। परन्तु जीवन में आचरण करना होता है। क्योंकि पोथी पढ़ने मात्र से पण्डित नहीं कहे जाते हैं। परन्तु सिद्धांत का सही आचरण करने वाले पण्डित कहलाते हैं। अतः महात्मा ने आचरण पर ज्यादा भार देकर सूत्र के अर्थ को जीवन में चरितार्थ कर दिया था। इसलिए वे महात्मा सदा निस्पृह, निर्मोही, निर्ममत्व, निर्लोभी, निरीह भाव वाले बनकर रहते थे। राग भी नहीं करना है और द्वेष भी नहीं करना है। अतः राग द्वेष रहित वीतराग बनना है। इस लक्ष्य से मान-अपमान को भी सहन करते थे। राग-द्वेष के निमित्तों से बचकर दूर रहते थे।

मन के अध्यवसायों की इतनी ऊंची भूमिका पर पहुँच चुके थे कि उन्हें मान-अपमान की असर नहीं होती थी। अपनी चेतना को पूरी समता में स्थिर रख पाते थे। एक दिन की बात थी कि भिक्षा में उडिद और उडिद की दाल मिली। इस निमित्त से महात्माजी गहरे ध्यान में उतर गए। विचार करने लगे कि यह उडिद क्या है ? और छिलका क्या है ? ओ हो ! अन्दर से उडिद (माष) तो सफेद है और सिर्फ बहार से आवरण-छिलका (तुष) ही काला है। वैसे ही अन्दर से आत्मा अनन्त गुणवान शुद्ध स्वच्छ निर्मल है। परन्तु बहार से आये हुए कर्म के काले आवरणों ने आत्मा को मलीन कर दिया है। ओ हो ! आत्मा में ज्ञानादि गुण तो मूलभूत सत्ता में पड़े ही हैं। परन्तु कर्म के आवरण जो बहार से आये हुए है उनको ही हटाना चाहिए। जो बहार से आये हैं उनको बहार निकालना है और जो अन्दर स्थित है उन्हें अन्दर से प्रकट करना है ध्यान की इस धारा में महात्मा शुक्ल ध्यान की कोटी में पहुँच गये। और क्षपक श्रेणी पर आरूढ हुए। कर्मों का क्षय होने लगा। जैसे प्रचण्ड आग में घास तीव्रता से जलकर भस्म होती है वैसे ही क्षणभर में ढेर सारे कर्म भी नष्ट होते गए। ध्यानानल की अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में जनम-जनम के कर्म नष्ट होते गए। और देखते ही देखते महात्मा को केवलज्ञान-अनन्तज्ञान प्राप्त हुआ। महात्मा अल्पज्ञ से अनंतज्ञानी-सर्वज्ञ बने। ज्ञान की आशातना से जो ज्ञानावरणीय कर्म बांधा था उसी का क्षय ज्ञान की तीव्र उपासना से करके अनन्तज्ञानी बनें। अतः ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करने के लिए ज्ञान-ज्ञानी की उपासना ही सही मार्ग है।

जैन दर्शन के अन्दर मुख्य रूप से पाँच आचार बताए गये हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार ये पाँच आचार आत्मा के ही मूलभूत ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन्हीं पाँच गुणों की उपासना के आचार हैं। स्वगुणोपासना आत्मिक धर्म है। स्व = आत्मा, गुण = ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादि, उपासना = साधना या आचार प्रणाली। अतः आत्म गुणों की उपासना करना यह आचार धर्म है। पाँच प्रकार के आत्मिक गुणों की पाँच आचारों की प्रक्रिया से उपासना की जाती है। प्रस्तुत विषय में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम करने के लिए ज्ञानाचार की उपासना करना यह आचार धर्म है। शास्त्र के अन्दर ८ प्रकार के ज्ञानाचार बताए गए हैं।

काले विणये बहुमाणे, उवहाणे तह अनिन्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो॥

(१) **काले**—अर्थात् योग्य काल में पाठादि करना, अध्ययन-अध्यापन करना।

(२) **विणये**—विनयपूर्वक। पाठदाता, ज्ञानीगुरु, विद्यागुरु, धर्मगुरु आदि से शिष्टता—नम्रता पूर्वक पाठादि ग्रहण करना।

(३) **बहुमाणे**—बहुमानपूर्वक। ज्ञान-ज्ञानी-ज्ञानोपकरणादि का आदरपूर्वक बहुमान-सम्मान करना। बाह्य और आभ्यन्तर उभय रूप से इनके प्रति सद्भाव एवं प्रीति रखना। अध्ययन-अध्यापन उभय में भावोल्लास एवं उत्साह-उमंगपूर्वक रुचि रखना।

(४) **उवहाणे**—उपधानपूर्वक। आगम शास्त्रादि के अध्ययन के लिए योग्यता प्राप्त करने के हेतु से जो विशिष्ट तपक्रियादि किया जाता है उसे उपधान कहते हैं। गुरु के सामीप्य में रहकर विशिष्ट तप एवं क्रिया पूर्वक ऐसे उपधान तथा योगोद्वहन करते हुए गुरुगम से शास्त्रादि पढ़ना यह उपधान ज्ञानाचार है।

(५) **अनिण्हवणे**—अनिह्नवन। गुरु ज्ञान और सिद्धान्तादि का अपलाप न करना। 'नि + ह्नु" धातु का अर्थ छिपाना ऐसा होता है। भाव में निह्नवन शब्द बना। निह्नवन अर्थात् छिपाना-अपलाप करना। यह दोष है। इसका उल्टा अनिह्नवन अर्थात् अशठपने से निर्मायिक भाव से सिद्धान्त आदि न छिपाना यह पाँचवा ज्ञानाचार है।

(६) **वंजण**—व्यंजन। व्यङ्जयते अनेन अर्थः इति व्यंजनम्। अर्थात् जिसमें अर्थ प्रकट होता है, वे व्यंजन कहलाते हैं। वर्णमाला के क, ख, ग, ङ आदि सभी

अक्षर व्यंजन कहलाते हैं, जिनसे शब्द बनते हैं। अतः शब्द शुद्धि अर्थात् व्यंजन शुद्धि यह छट्ठा ज्ञानाचार है।

(७) **अत्थ** अर्थ-शब्दार्थ। शब्द का अर्थ कहलाता है। अर्थ से ज्ञान सही समझना—यह अर्थ ज्ञानाचार है। जैसे सुवर्ण का अर्थ सोना ही करना चाहिए।

(८) **तदुभय**—शब्द + अर्थ दोनों। शब्द और अर्थ दोनों का ज्ञान होना, यह तदुभय ज्ञानाचार है। इस शब्द-पद एवं सूत्र का जो अर्थ होता है वही करना तथा शब्द-पद-सूत्र-श्लोकादि के साथ-साथ अर्थ का भी सही ज्ञान रखना, इसे तदुभय ज्ञानाचार कहते हैं।

इस तरह ८ प्रकार के ज्ञानाचार बताए गए हैं। उपरोक्त बताए गए ज्ञानाचार के आठों नियमों के पालन करने से ज्ञान की उपासना होती है, जिससे ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बंधते हैं। ठीक इससे विपरीत आचार के पालन न करने से अर्थात् अतिचारों का सेवन करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है, क्योंकि आचार धर्म सही उपासना है, जबकि अतिचार सेवन विपरीत प्रवृत्ति अर्थात् विराधना है। ज्ञानाचार कर्म क्षयकारक है। ज्ञानातिचार कर्म बंधकारक है। ज्ञानाचार के विपरीत ज्ञानातिचार इस प्रकार है :—

योग्य काल में न पढ़ते हुए अयोग्य काल में पढ़ना। उल्कापात, ग्रहणकाल, वृष्टिकाल, प्रसूति तथा मृत्यु आदि के सूतक काल में एवं मासिक धर्म आदि के समय में शास्त्रादि का ज्ञान सम्पादन करना वर्ज्य है। ये काल ज्ञानोपार्जन के लिए अशुभ-अयोग्य हैं, अतः इसे **"असज्झाय काल"**—अस्वाध्याय काल कहते हैं। इसी तरह अ ध्याय आदि के दिन तथा अस्वाध्याय आदि का काल छोड़ देना चाहिए। यदि ऐसे अयोग्य काल में स्वाध्याय आदि करते हैं तो ज्ञानातिचार दोष लगता है। अतः योग्य उचित काल में ही ज्ञान साधना करनी चाहिए।

अविनयपूर्वक पढ़ने से भी ज्ञानातिचार का दोष लगता है। ज्ञानदाता ज्ञानी का—शास्त्र-ग्रन्थ-पुस्तकादि ज्ञानोपकरण का विनय तथा सम्मान न करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। इसलिए प्राचीन शिक्षा पद्धति में ज्ञानदाता, गुरु एवं शास्त्र ग्रन्थ-ज्ञानोपकरण आदि का पूर्ण विनय एवं सम्मान किया जाता था। जबकि वर्तमान शिक्षा पद्धति में विनय एवं सम्मान आदि की काफी ज्यादा उपेक्षा देखी जाती है। परिणाम स्वरूप विद्यार्थी में शिक्षक के प्रति कोई सम्मान नहीं है। इसी तरह शिक्षकों में विद्यार्थीयों के प्रति कोई सद्भाव नहीं है। जिसके कारण शिक्षा जगत में विद्यार्थी एवं शिक्षकों के बीच संघर्ष जारी है। यह आधुनिक शिक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी क्षति है। अविनय एवं अपमान आदि ज्ञानातिचार है। जो कि कर्म

बंधन में कारण है। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं कि मगध के अधिपति सम्राट राजा श्रेणिक जैसे ने एक चोर के पास से विद्या सीखने के लिए उसे राज्य सिंहासन पर बैठाकर स्वयं नम्रतापूर्वक नीचे बैठकर अंजलीबद्ध विनम्र भाव से निवेदन करके विद्या ग्रहण की थी। विनियाचार के सेवन पूर्वक विद्या ग्रहण करने से वैनयिकी बुद्धि निर्माण होती है। जबकि अविनय के अतिचार सेवन से मनुष्य उद्धत्त-उन्मत एवं अविनयी बनता है। इसीलिए ज्ञान-ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण का अविनय, अपमान आदि करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

उपधान एवं योगोद्वहनपूर्वक गुरु सामीप्य में रहकर गुरुगम से शास्त्रादि का ज्ञान सम्पादन करना यह ज्ञानाचार है। जबकि इससे विपरीत स्वयं शास्त्र दि के मनमाने अर्थ करना यह ज्ञानातिचार है। शास्त्रादि का मनमाने अर्थ करने से बहुत बड़ा अनर्थ होता है। ऐसा करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है।

गुरु को छोड़कर अन्य से पाठ लेना—पढ़ना एवं अपने गुरु को छिपाकर अन्य को गुरु कहना यह भी ज्ञानातिचार है।

श्लोक-स्तोत्र-पद-सूत्रादि पढ़ते-लिखते समय मात्रा तथा अनुस्वार आदि कम अधिक नहीं करने चाहिए। वर्णमाला के सीमित अक्षरों से बने हुए शब्दों में अनुस्वार एवं मात्रा का भी फरक करने से अनर्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ—मास और मांस, शस्त्र और शास्त्र ऐसे शब्दों में अनुस्वार और मात्रा के लगाने और न लगाने से कितना अन्तर होता है यह स्पष्ट समझ में आता है। इसलिए व्यंजन-उच्चार तथा शब्द आदि सही रूप में प्रयोग में लाने चाहिए तथा अर्थ भी सही करना चाहिए यह ज्ञानाचार धर्म है। ठीक इससे विपरीत व्यजन-शब्द-पद आदि गलत लिखने या उनके उच्चारण गलत करने से तथा अर्थ विपरीत करने से ज्ञानातिचार दोष लगता है। जिससे ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है। ज्ञान-ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण की आशातना भी ज्ञानावरणीय कर्म बंधाती है। पैर लगने से, थूक लगने से, तथा मत्र-मूत्र साफ करने से इत्यादि अनेक प्रकारों से ज्ञान की आशातना होती है। ज्ञानी के प्रति द्वेष-मत्सर एवं ईर्ष्या आदि नहीं करनी चाहिए, ज्ञानी की आज्ञा की अवज्ञा भी नहीं करनी चाहिए। ज्ञान रुचि वाले, पढ़ने-पढ़ाने वाले के बीच विघ्न भी नहीं डालना चाहिए, ज्ञानियों की हँसी-मजाक भी नहीं उडानी चाहिए, विद्वानों की खिल्लियाँ उड़ाने से भी मनुष्य अपने आपको ज्ञानावरणीय कर्म से भारी करता है। परिणाम स्वरूप ऐसे अतिचार के सेवन से जन्म-जन्मांतर में अज्ञानी बनता है। ज्ञानगम्य विषयों पर अश्रद्धा-अविश्वास करना भी अतिचार-दोष है। किसी को तुतलाता देखकर उसकी हँसी उड़ाना, किसी गूंगे-बहरे को देखकर हँसी-मजाक उड़ाना भी ज्ञानातिचार दोष है। इस प्रकार ऐसे अनेक ज्ञानातिचार दोष हैं जिनके सेवन से ज्ञानवरणीय कर्म

बंधता है तथा जीव जन्म-जन्मांतर में उनकी सजा भोगता है। अतः समझदार इन्सान को ऐसे ज्ञानातिचार दोषों का सेवन नहीं करना चाहिए।

श्रुत मद ज्ञानातिचार

श्रुत अर्थात् शास्त्र-आगम-ग्रन्थादि। सभी जीव को अपने-अपने क्षयोपशम के आधार पर शास्त्रादि का ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि अपने ज्ञान का कभी अभिमान न करे। अभिमान किसी भी क्षेत्र में नुकसानकारक ही होता है। कर्म शास्त्र का नियम है कि जिस विषय का अभिमान किया जाता है वही वस्तु उससे ठीक विपरीत मिलती है। जीवन में अभिमान के कई क्षेत्र बताये हैं। जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि अनेक प्रकारों के अभिमान में श्रुत का भी अभिमान एक प्रकार का है। मुझे बहुत आता है, मैं सब कुछ जानता हूं, मेरे से इस जगत में कुछ भी अन्जाना नहीं है, यह मेरे बांए हाथ का खेल है, ऐसे तो सैकड़ों विषय मेरी जेब में भरे पड़े हैं इत्यादि शेखचल्ली के काल्पनिक विचार मानव मन की अभिमान की मात्रा को प्रकट करते हैं। शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि ऐसा श्रुतमद-अभिमान भी ज्ञानी को सेवन नहीं करना चाहिए चूंकि श्रुत-ज्ञान का अभिमान करने से ज्ञानवरणीय कर्म बंधता ही है तथा साथ-साथ नीच गोत्र कर्म का भी बंध होता है। नीच गोत्र बांधकर आगामी भवों में जीव नीच-हल्के कुल में जन्म लेता है।

इस विषय में एक दृष्टांत महान काम विजेता दश पूर्वधर महापुरुष स्थुलिभद्रस्वामी का दिया गया है। १४ पूर्वधारी महान गीतार्थ ज्ञानी भगवंत श्री भद्रबाहुस्वामी महाराज के पास पूज्य स्थुलिभद्रस्वामीजी पढते थे। दश पूर्वों का अध्ययन कर चुके थे। एक बार स्वाध्यायार्थ समीपस्थ स्थान में बैठे थे कि उनकी सेणा, वेणा, रेणा आदि सात बहन साध्वियां उन्हें वंदना करने गई। भाई स्थुलिभद्रस्वामी को ऐसा विचार आया कि इतना पढ़ा लिखा मैं भी कुछ हूं अतः बहनों को ऐसा कुछ चमत्कार दिखाऊँ, ऐसा सोचकर उन्होंने सिंह का रूप धारण किया। बहनों ने आते ही सिंह देखा और घबडा गई। दौड़ती हुई बहनें आचार्य भद्रभाहुस्वामी के पास गई और निवेदन किया कि हे भगवंत! हमारे भाई महाराज स्थुलिभद्रजी को सिंह खा गया हो ऐसा लगता है। महान् ज्ञानी भद्रबाहुस्वामी ने इस बात का रहस्यार्थ जान लिया और बहनों को पुनः वंदना करने के लिए जाने की आज्ञा दी। बहनें गई और वंदना करके लौट गई। जब स्थुलिभद्रजी आगामी पाठ के लिए आचार्यश्री के पास पधारे तब आचार्यश्री ने कहा तुमने श्रुत का अभिमान किया है। तुम्हें ज्ञान का अजीर्ण हो गया है। अतः अब आगे के पूर्वों का ज्ञान तुम नहीं पा सकोगे। अभिमान की कक्षा यह ज्ञान की पात्रता नहीं है।

ऐसा निर्णयकर आचार्यश्री ने आगे के ४ पूर्वों का अध्यापन नहीं कराया। यद्यपि स्थुलिभद्रजी ने क्षमा याचना की, पश्चात्ताप व्यक्त किया श्री संघ ने भी काफी बिनती की फिर भी आचार्यजी ने अर्थ से नहीं पढ़ाया। इस तरह मिले हुए ज्ञान का अभिमान करने से कितना नुकसान होता है? यह इस प्रसंग से समझना चाहिये। अतः श्रुत मद यह दोष है। ज्ञानावरणीय कर्म बंधाने में कारण है।

कर्माधीन बुद्धि और परिश्रमाधीन विद्या

कर्म शास्त्र यह कहता है कि **"बुद्धिः कर्माधीना विद्या च परिश्रमाधीना"** अर्थात् बुद्धि कर्म के आधीन है और विद्या परिश्रम के आधीन मिलती है। संसार अनंत जीवों से भरा पड़ा है यद्यपि जीव मात्र ज्ञानवान है, परन्तु सभी का ज्ञान एक समान-सरीखा नहीं है अर्थात् ज्ञान की मात्रा कम-ज्यादा है। इसका एक ही कारण है कि सभी जीवों के द्वारा जन्म-जन्मान्तर में उपार्जित ज्ञानावरणीय कर्म कम-ज्यादा है। जिन जीवों का ज्ञानावरणीय कर्म प्रमाण से ज्यादा है उन्हें बुद्धि कम मिलती है और जिन जीवों का ज्ञानावरणीय कर्म का प्रमाण कम है उन्हें बुद्धि अधिक मिलती है। अतः बुद्धि का प्रमाण ज्ञानावरणीय कर्म के प्रमाण पर आधारित है। इसलिए बुद्धि को कर्माधीन कहा है। अतः स्वोपार्जित कर्मानुसार जीवों को अल्प अधिक बुद्धि मिलती है। समस्त संसार इस सिद्धांत का प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक मां के चार पुत्रों में भी बुद्धि एक सरीखी नहीं होती है, तथा एक मां के जुड़वा सन्तानों में भी एक सरीखी बुद्धि नहीं होती है। **"मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्नाः"** यह कहावत जग प्रसिद्ध है। अर्थात् सभी लोगों की बुद्धियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। एक ही कक्षा में पचास से सौ विद्यार्थी पढ़ते हैं। पढ़ाने वाले शिक्षक अध्याय सभी को समान रूप से समझाते हैं फिर भी किसी की समझ में आता है, किसीकी समझ में नहीं आता है, कोई जल्दी समझता है कोई बिल्कुल समझ नहीं सकता है, कोई एक बार में समझ जाता है, कोई अनेक बार समझाने पर भी समझ नहीं सकता है, यह बुद्धि की न्यूनाधिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो कि कर्म के आधीन है। प्रत्येक जीव अपने ज्ञानावरणीय कर्मानुसार बुद्धि प्राप्त करता है, परन्तु परिश्रम के आधार पर ज्ञान सम्पादन करता है, बुद्धि कम होने पर भी यदि अधिक परिश्रम करेगा तो भी ज्ञान प्राप्त कर लेगा, अन्तर इतना ही रहेगा की तेज बुद्धि वाला जिस ज्ञान को १० मिनट में समझ लेगा उसी ज्ञान को अल्प बुद्धि वाला शायद परिश्रम के आधार पर १० घंटे या १० दिन में समझ पायेगा। इसलिए विद्या परिश्रम के आधार पर प्राप्त होती है। अतः अल्प बुद्धि वाले को भी परिश्रम के आधार पर ज्ञान प्राप्त होता है इसलिए बुद्धि कर्म के आधिन और ज्ञान परिश्रम के आधीन है। यह कर्मसत्ता का सिद्धांत सही लगता है, बुद्धि को ही ज्ञान कहते

हैं। अतः बुद्धि ज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र नहीं है। मति, स्मृति, चिंता, संज्ञा, अभिनव-बोध आदि बुद्धि के ही पर्यायवाची शब्द है। मतिज्ञान के ३४० भेद आगे दिखाये गये हैं। उनम से जितने भेदों का मतिज्ञानावरणीय कर्म बाँधा होगा उतने भेदों का मतिज्ञान नहीं होगा, अर्थात् आच्छादित रहेगा, और जिन भेदों का मतिज्ञाना-वरणीय कर्म नहीं बाँधा होगा उन प्रकारों का ज्ञान जीवों में प्रकट रहेगा। शास्त्रों में प्रगल्भ प्रतिभा सम्पन्न एवं महान बुद्धिशाली बुद्धिनिधान कई महापुरुषों के दृष्टान्त आते हैं। आर्य वज्रस्वामी, हेमचन्द्राचार्य, महा महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज, बुद्धिनिधान महाअमात्य अभयकुमार एवं रोहककुमार आदि के दृष्टांत है।

असाधारण बुद्धिमान महापुरुष

आर्य वज्रस्वामी—श्रेष्ठिपुत्र धनगिरि और सुनंदा का पुत्र वज्रकुमार बाल्यवय में ही विरक्त भाव वाले बनें। पिता धनगिरि की दीक्षा के बाद दो-तीन साल की आयु का बालक वज्रकुमार भी पूर्व जन्म के ज्ञान-वैराग्य के संस्कार से बचपन में ही विरक्त बना। चारित्र प्राप्ति के हेतु से बालक ने रोना शुरू किया। माता सुनंदा उसके अति रुदन से उब गई थी। एक दिन पति साधु धनगिरि के भिक्षा के लिए घर आने पर सुनंदा ने बालक को दे दिया। मुनि महाराज बालक को लेकर उपाश्रय आये एवं गुरु महाराज को अर्पण कर दिया साधु बनाने के लिए अपरिपक्व काल होने से गुरु महाराज ने साध्वियों के उपाश्रय के शय्यातर को सौंप दिया। झूले में सुलाए गए बालक को साध्वियों के बीच रखकर शय्यातर मालकिन अपने कार्य में लग जाती थी। शास्त्रों का अध्ययन करती साध्वियां जब जोर से पाठ करती थी तब झूले में रहा हुआ बालक वज्रकुमार बड़े गौर से एवं ध्यान से सुनता था। पूर्व जन्म के क्षयोपशमानुसार मिली हुई बड़ी तेज बुद्धि के कारण बालक को झूले में सुनते-सुनते ही कई शास्त्र याद हो गए। इस तरह दो-तीन साल बीत चुके, बालक को अनेक शास्त्र याद हो गए। ६ वर्ष की आयु में राजदरबार में हुए न्यायानुसार आचार्यश्री ने वज्रकुमार को दीक्षा देकर साधु मुनिराज वज्रस्वामी बनाये। आचार्यश्री अपने अनेक बड़े-बड़े साधुओं को शास्त्रों के पाठ समझाते थे। एक दिन पाठ के समय आचार्यश्री को शौच के लिए जंगल जाना पड़ा ऐसे समय में बालमुनि वज्रस्वामी गुरु के स्थान पर बैठ गए और बिना शास्त्र देखे ही बड़े-बड़े साधुओं को पढ़ाने तथा समझाने लगे। उपाश्रय के द्वार पर आये हुए गुरु महाराज ने यह दृश्य देखा तथा बालमुनि के मुंह से शास्त्रों के पाठ सुनकर आश्चर्यचकित रह गए। आगे वज्रस्वामी को वाचक पद से विभूषित किया। बाल्यवय में ही कितनी असाधारण बुद्धि-मति थी, उसका यह उदाहरण है।

हेमचन्द्राचार्य—गुजरात के धंधुका गाँव के मोढ ज्ञाति के वणिक पिता चाचींग और माता पाहिनी देवी के पुत्र चांगदेव बचपन से ही प्रगल्भ प्रतिभा वाले थे। एक बार की बात है कि माता पुत्र को लेकर जिन मन्दिर दर्शन करने गई थी। माता मन्दिर में दर्शन कर रही थी कि इतने में बालक पास में उपाश्रय में जाकर आचार्यश्री की गद्दी पर बैठ गया, मानो प्रवचन देने की मुद्रा में अभिनय करने लगा। इतने में मन्दिर से दर्शन करके आचार्य महाराज श्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी उपाश्रय में पधारें। दूर से ही एक छोटे बालक को अपनी गद्दी पर बैठे हुए देखकर आचार्यश्री को बड़े आश्चर्य के साथ सन्तोष भी हुआ। अपनी गद्दी के भावी वारसदार पट्टधर का अनुमान करके मन में सन्तोष व्यक्त किया। इसी बीच माता पाहिनी देवी मन्दिर से दर्शन करके बाहर निकली हुई बालक को ढूंढती हुइ उपाश्रय में आई। पूज्य आचार्यश्री को स्तब्ध खड़े हुए एवं बालक को गद्दी पर बैठा हुआ देखकर माताजी भी आश्चर्य चकित रह गई। शीघ्रता से दौड़कर बालक को लेने गई इतने में आचार्य महाराज ने माताजी से बालक को न उठाने की विनती की और कहा कि हे देवी ! इस बालक को शासन के लिए अर्पण कर दो। मैं तुम्हारे पास शासन के लिए इस बालक की याचना करता हूं। यदि यह बालक घर में रहेगा तो पढ लिखकर व्यापार करके तुम्हारे एक परिवार का भरण-पोषण करेगा परन्तु यह बालक शासन को अर्पण कर दो तो एक महान त्यागी विद्वान बनकर हजारों लाखों का कल्याण करेगा। माताजी ने निर्मोह भाव से बालक को गुरु चरणों में अर्पण किया। बाल्यवय में ही बालक को दीक्षा देकर मुनि सोमचन्द्रविजय नाम रखा। एक शिल्पी जैसे पत्थर को घड़ते हुए प्रतिमा का आकार देता है जो जगत वंदनीय-पूजनीय बनती है, वैसे ही आचार्यश्री ने न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि शास्त्रों का अभ्यास कराके मुनि सोमचन्द्रविजय को ठोस विद्वान बनाए। प्रगल्भ बुद्धि प्रतीभा सम्पन्न एवं आश्चर्यकारी तर्क शक्ति से मुनिवर ने हजारों लाखों श्लोक कंठस्थ करके भारी ज्ञान संपादन किया। सरस्वती देवी प्रसन्न हुई और मानो उनकी जीभ पर वास करने लगी आगे बढ़कर हजारों श्लोकों की नयी रचना करके न्याय, व्याकरण काव्य आदि के शास्त्रों की रचना करके हेमचन्द्राचार्य के नाम से जग प्रसिद्ध बनें। कहा जाता है कि आचार्यश्री ने करीब ३॥ करोड़ श्लोकों की नयी रचना की थी। उनके रचित "सिद्धहेम शब्दानुशासन" जैसे महाकाय व्याकरण ग्रन्थ का गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह ने हाथी की अंबाडी पर जुलूस निकालकर सम्मान किया था। उसी तरह कुमारपाल भूपाल ने उनके रचित योगशास्त्र ग्रन्थ को शोभा यात्रा निकाली थी। स्वबुद्धि से स्फुरित ज्ञान की नयी स्फुरणाओं को आचार्यश्री सात सौ लेखकों के पास लिखवाते थे। राजा कुमारपाल ने लेखकों और ताड़पत्रों की व्यवस्था की थी। परन्तु कहा जाता है कि ताड़पत्र और भोजपत्र कम पड़ते थे लेकिन आचार्यश्री का ज्ञान समुद्र की

लहरों की तरह उमडता था । कितना अद्भुत ज्ञान का क्षयोपशम था । सचमुच वे कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में अमर बनें ।

१४४४ ग्रन्थों के रचयिता आचार्य हरिभद्रसुरि—५० वर्ष की आयु में ब्राह्मण हरिभद्र पुरोहित ने चमत्कारिक निमित्त से जैन दीक्षा ग्रहण की, एक छोटी बाल साध्वी के अभ्यास किये जाते श्लोक को सुनकर उनका मन ज्ञान की गहराई में चला गया । आचार्य श्री के पास श्लोकार्थ समझकर सर्वस्व समर्पित करके उनके शिष्य रूप में साधु बन गए । बड़ी आयु में भी सर्व धर्म-दर्शनों का परिशीलन करके उन्होंने न्यायादि के उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे । ज्ञान की इस साधना में उन्होंने करीब १४४४ नये ग्रन्थों की रचना की, ऐसे महापुरुष ज्ञानाकाश में अद्वितीय सूर्य समान तेजस्वी बनें ।

महा महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज—एक माता अपने बालक को लेकर रोज जिन मन्दिर दर्शन करने जाती थी, दर्शन करके पास के उपाश्रय में गुरु महाराज के पास भक्तामर स्तोत्र का स्मरण करती थी । माता ने ऐसा नियम बनाया था कि भक्तामर स्तोत्र का स्मरण करके ही मुंह में पानी डालना । नियम की कसौटी होती है । एक दिन काफी तेज वर्षा हुई, वर्षा रुकी ही नहीं और माता मन्दिर न जा सकी । योगानुयोग बरसती हुई तेज बारिश में ५-७ दिन बीत गए । माता के सातों दिन उपवास ही हुए । बालक ने पूछा मां ! तू क्यों कुछ खाती नहीं है ? माता ने कहा बेटा तू छोटा है तू इसकी चिन्ता मत कर, तुझे समझ नहीं पड़ेगी बालक ने हठ पकड़ी और कारण जानने की कोशिश की तब माता ने कहा, मेरा नियम है कि भक्तामर का पाठ सुनकर ही पानी पीती हूं । कई दिनों से तेज बारिश होने के कारण भक्तामर सुन नहीं सकी इसलिए मैं नियम का पालन करती हुई कुछ भी नहीं खाती-पीती । बालक ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—मां ! यदि ऐसा था तो मुझे इतने दिन से क्यों नहीं कहा ? इसमें कौन सी बड़ी बात थी भक्तामर स्तोत्र मैं ही सुना देता । इतना कहकर बालक ने भक्तामर स्तोत्र बोलना शुरू कर दिया, माता हाथ जोड़कर भावपूर्वक सुनने लगी । पारणा करके माता बालक की अद्भुत स्मरण शक्ति पर विस्मय प्रकट करने लगी । भक्तामर स्तोत्र सुनने के लिए मेरे साथ आता था, और सुनते मात्र से इसे सारा स्तोत्र याद रह गया । दूसरे दिन गुरु महाराज के पास जाकर सारी घटना सुनाई । गुरु महाराज ने कहा, माताजी ! ऐसे बालक को शासन के लिए अर्पित कर दो, यह पढ-लिखकर महान् विद्वान बनेगा, जगत् का कल्याण करेगा । ठीक वैसा ही हुआ ।

अल्पवय में ही साधुत्व स्वीकार कर ज्ञानोपार्जन में तल्लीन बन गए । विद्वानों के धाम काशी नगरी में पहुँचे और अगाध ज्ञान प्राप्त किया । सत्रहवीं

शताब्दी के इन महामहोपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने काशी नरेश की राज्य-सभा में हजारों दिग्गज ब्राह्मणों की सभा में शास्त्रार्थ किया। वर्णमाला के ४ वर्ग के औष्ठय अक्षरों का, तथा त वर्ग के दन्तय अक्षरों का उच्चारण न करने की शरत से शास्त्रार्थ किया एवं सिद्धांत विजेता बनकर महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त की। अपनी अगाध तर्क शक्ति से अनेक तर्कयुक्त न्यायादि ग्रन्थों का आविष्कार किया। इस तरह ज्ञान के क्षेत्र में बेजोड़ प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष बने।

इस तरह इतिहास में दृष्टिपात करने से ऐसे अनेक महान् पुरुषों के दृष्टांत दृष्टिपथ में आते हैं जिनकी गजब की बुद्धि प्रतिभा हमारे लिए बुद्धि की परे की बात हो जाती है। शून्य में से सर्जन करने की उनकी सर्जनात्मक शक्ति थी। जबकि आज हमारी सर्जनात्मक शक्तियां नहीं हैं। आज हम अनुकरणवृत्ति वाले रह गए हैं। हम उन महापुरुषों के लिखे हुए शास्त्रों को पढ़ भी नहीं पाते हैं, अतः ऐसा लगता है कि आज हमारी बुद्धि उनकी तुलना में रत्ती भर भी नहीं है। बुद्धि का बौद्धिक विकास करने के लिए ज्ञानाचार की उपासना करनी पड़ती है। जैसे चाकू को घिसकर धारदार बनाई जाती है वैसे ही शास्त्रों की कसौटी पर बुद्धि को घिसकर तेज बनाई जाती है। यदि मिली हुई बुद्धि का सदुपयोग न किया जाय तो पड़े हुए लोहे को जिस तरह जंग लग जाता है उसी तरह ज्ञान की उपासना न करने से मिली हुई बुद्धि को जंग लगता है। पड़ी-पड़ी बुद्धि नष्ट हो जाती है। जिस तरह एक पहलवान प्रतिदिन व्यायाम करता है, अनेक प्रकार की कसरत करता है, और शरीर सौष्ठव बनाकर हृष्ट-पुष्ट बनता है, यह तो शारीरिक कसरत हुई उसी तरह बुद्धि की भी कसरत करनी चाहिए, बुद्धि की कसरत शास्त्रीय सिद्धांतों के पठन-पाठन एवं चिन्तन मनन से होती है। अतः बुद्धि को जंग न लगे इसलिए प्रतिदिन शास्त्र सिद्धांत-स्वाध्याय-चिन्तन मनन आदि करना चाहिए। आसन व्यायाम और आहार आदि जिस तरह शारीरिक कमजोरी को हटाकर शक्ति प्रदान करता है उसी तरह ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय-चिन्तन मनन अध्ययन अध्यापन आदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करके ज्ञानशक्ति बढ़ाता है। उपरोक्त नियमानुसार यदि हमें सही या अच्छी तेज या कुशाग्र बुद्धि मिले, ऐसी इच्छा हो तो वर्तमान में ही ज्ञानार्जन के लिए सही दिशा में प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् सम्यग्ज्ञान उपार्जन करने की दिशा में बुद्धि लगानी चाहिए।

बुद्धि का सदुपयोग

जगत् में सभी वस्तुओं का उपयोग होता है। धन सम्पत्ति, शक्ति तथा बुद्धि का भी उपयोग किया जाता है। उपयोग दोनों तरीकों से होता है—सदुपयोग, दुरुपयोग। मिली हुई शक्ति, सम्पत्ति एवं बुद्धि का सही दिशा में सही उपयोग

करना सदुपयोग कहलाता है। ठीक इससे विपरीत उल्टी-दिशा में शक्ति, सम्पत्ति एवं बुद्धि का विपरीत उपयोग करना दुरुपयोग कहलाता है। निरर्थक गप-सप लगाने में बुद्धि का उपयोग करना यह बुद्धि का दुरुपयोग है। इसी तरह हंसी-मजाक में, किसी को सताने में, कुतर्क-वितर्कों से तत्त्वों की खिल्लियां उड़ाने में, सत्य का अपलाप करके असत्य को सिद्ध करने में, तथा झूठे को सच्चा बनाने में एवं सच्चे को झूठा करने में, असत् को सत् करने में, अभाव को भाव करने में, जिसका अस्तित्व नहीं है उसको साबित करने में, और जिसका अस्तित्व है उसको असत् करने में, इत्यादि कई तरीकों से बुद्धि का दुरुपयोग किया जाता है। यह प्रवृत्ति भी ज्ञानावरणीय कर्म बंधाती है, अतः हमें चाहिए कि बुद्धि का सदुपयोग सही दिशा में ही करना चाहिए, जैसे कि सर्वज्ञोपदिष्ट तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान उपार्जन करने में, तदनुरूप अध्ययन-अध्यापन, चिन्तन-मनन, पठन-पाठन आदि करने में तथा सही श्रद्धा निर्माण करने में, जीवादि नौ तत्त्वों के चिन्तन में, शास्त्रीय विषयों की मीमांसा करने में तथा सत्य को सत्य सिद्ध करने में, एव असत्य को असत्य सिद्ध करने में तथा सत्य की खोज करने में एवं सत्य सिद्धांतों को जीवन में चरितार्थ करने में आदि कार्यों में बुद्धि का उपयोग करना ही बुद्धि का सदुपयोग है। धन, सम्पत्ति और शक्ति का सदुपयोग यद्यपि आसान है। फिर भी सदुपयोग करने वालों की प्रतिशत संख्या अल्प है, जबकि बुद्धि का सदुपयोग मुश्किल है। अतः सदुपयोग करने वालों की प्रतिशत संख्या भी काफी कम है। सम्प्रति बुद्धिजीवियों का काल गिना जाता है। परन्तु उनका बुद्धि विलास में ही समय व्यतीत होता है। आचार धर्म को महत्व न देने वाली वर्तमान बुद्धिजीवी पीढ़ी आचार-विहीन बनती जा रही है। यह लाभप्रद नहीं है। अतः मिली हुई बुद्धि का दुरुपयोग करने से जीव ज्ञानावरणीय कर्म बांधकर अज्ञान दुःख को भोगता है तथा बुद्धि का सदुपयोग करके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करके जीव ज्ञान सुख पाता है।

स्वमति एवं शास्त्रमति

शास्त्र एक महान अगाध महासागर है, जिसका कोई अन्त नहीं है। समुद्र में जिस तरह अनेक रत्न रहते हैं, वैसे ही शास्त्र के सागर में अनेक तत्त्व रहते हैं। शास्त्र एक ज्ञान का खजाना है जो तत्त्वों से परिपूर्ण है। इस खजाने में से कितने भी तत्त्व निकाले जाय फिर भी कभी समाप्त नही होता है। दूसरी तरफ हमारी मति-बुद्धि अगाध नहीं है, सीमित-परिमित है, मर्यादित है। अब प्रश्न यह उठता है कि परिमित बुद्धि में ज्ञान का अगाध समुद्र कैसे समाविष्ट करें ? जैसे छोटे कुएँ में समुद्र को कैसे समाया जा सकता है ? वैसे ही अगाध एवं अमाप शास्त्र के महासागर को हमारी कूप सदृश बुद्धि में कैसे समाया जा सकता है ? जब स्वमति में शास्त्र की बातें नही बैठती हैं या समझ में नहीं आती है तब लोग शास्त्र झूठे हैं, गलत हैं,

कपोल कल्पित हैं, ऐसा कहकर शास्त्रों को उड़ाने की बालीश कोशिश करते है, यह मिथ्याभाव है। ऐसा क्यों नही सोचते कि मेरी बुद्धि अल्प है, सम्भव है मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही हो. अतः मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, परन्तु शास्त्र एवं सिद्धान्त सही है, ऐसा विचार करना सम्यग् श्रद्धा का भाव है, लेकिन ऐसे भाव वाले कम हैं। स्वमति अर्थात् अपनी बुद्धि में बैठे तो शास्त्र सही और अपनी बुद्धि में न बैठे तो शास्त्र गलत है ऐसा कहना भी अपराध है, उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म की प्रचुरता के कारण हमें बुद्धि अल्प मिली हो जिससे हम शास्त्र के सिद्धान्त को समझ न पायें इसमें हमारी भूल है, न कि शास्त्र की। **"नाचन न जाने आंगन टेढ़ा"** जैसी बात करनी उचित नही है, यदि संसार में सर्वेक्षण करने लगे तो यह दिखाई देगा कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदयवाले जीव अधिक है, जबकि ज्ञान के क्षयोपशम वाले जीव अल्प है। हमारे जैसे जीवों का विचार किया जाय तो भी सभी का ज्ञानावरणीय कर्म अनन्तगुना है। जबकि ज्ञान उसके अनन्तवे भाग का ही है अर्थात् सभी जीवों में ज्ञान के उदय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय कर्म का ही उदय अनन्तगुना है। अनन्तगुने ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के सामने अनन्तवे भाग का ज्ञान किस हिसाब में है ? भूतकाल में भी यही स्थिति थी कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदयवाले जीवों की संख्या ही ज्यादा थी और ज्ञान के उदयवाले जीवों की संख्या अल्प थी यही स्थिति वर्तमान में है और भावी में रहेगी। कभी भी ज्ञानियों की संख्या अज्ञानियों से बढ़ी नहीं है।

अब जो ज्ञानी है उनमें भी एक ही विषय के पूर्ण ज्ञानी या अनेक विषयों के पूर्ण ज्ञानी या अनन्त विषयों के सम्पूर्ण ज्ञानी हैं ? आज एक विषय के ही पूर्ण ज्ञानी नहीं है तो अनेक विषयों के पूर्ण ज्ञानी की तो बात ही कहाँ रही ? संसार में अनन्त वस्तुएं हैं। अतः ज्ञान भी अनन्त वस्तु विषयक होगा। इतना ही नहीं वस्तु अनन्त धर्मात्मक है एक-एक वस्तु की अनन्त पर्याय हो चूकी है, क्योंकि वस्तु स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से पर्यायों में परिवर्तन होता ही रहता है। एक वस्तु के अन्त पर्यायों को जानने के लिए या अनन्त वस्तुओं के अनन्त पर्यायों को जानने के लिए अनन्त वस्तुविषयक ज्ञान आवश्यक है। हमारे जैसे अल्प ज्ञानी एक ही वस्तुविषयक ज्ञान को भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकते है तो अनन्त वस्तुविषयक अनन्त ज्ञान की बात कहाँ रही, यह तो अनन्त ज्ञानी के लिए ही सम्भव है। अतः अनन्तज्ञानी बनकर ही अनन्त ज्ञान की अन्तिम सीमा को जान सकेंगे ! सूर्य का प्रकाश होने पर भी उलुक यदि नहीं देख पाता है तो इसमें सूर्य का दोष नहीं अपितु उलुक का ही दोष है, ठीक उसी तरह अनन्त ज्ञानी की बातों को अल्पज्ञानी नहीं समझ पाता है, इसमें अल्पज्ञानी में ज्ञान की अपूर्णता का दोष है। अतः हमें स्वमति पर आधारित न रहकर शास्त्रमति पर आधारित रहना चाहिए।

"शास्त्र चक्षुषा पश्यति" शास्त्र ही हैं आँखें जिसकी उसी से देखता है वही शास्त्रवेत्ता कहलाता है। इसलिए हमें भी हमारी बुद्धि शास्त्रीय अर्थात् शास्त्रानुसारी बनानी चाहिए।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद

आत्मा के गुणों पर आए आवरण का ही नाम कर्म है। अतः जितने आत्म-गुण हैं उतने ही कर्म हैं। जितने आत्मा के ज्ञानादि गुणों के भेद हैं उतने ही ज्ञानादि के आवरक-आच्छादक कर्मों के भेद बनेंगे। गत चौथे प्रवचन में पाँचों ज्ञानों के भेद दर्शाए गए हैं। अब यहां पर उन्हीं ज्ञान के भेदों के आवरक कर्मों के भेद देखने हैं। यहां प्रस्तुत सन्दर्भ में श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद देखने हैं। श्रुतज्ञान के १४ या २० भेद होते हैं। अतः श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भी उतने ही १४ या २० भेद बनेंगे। जिन-जिन तरीकों से श्रुतज्ञान उदय में आता है, उन उन प्रकारों से श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म भी उदय में आता है। अतः अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत आदि जो १४ प्रकार श्रुतज्ञान के हैं उन सबके आगे "ज्ञानावरणीय" शब्द जोड़ देने पर वे ही श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद बन जायेंगे। उदाहरणार्थ—१. अक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म, २. अनक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म, ३. संज्ञि श्रुत ज्ञा. क., ४. असंज्ञि श्रुत ज्ञा. क., ५. सम्यक् श्रुत. ज्ञा. क., ६. मिथ्यादृष्टि श्रुत ज्ञा. क. ७. सादि श्रुत ज्ञा. क., ८. अनादि श्रुत ज्ञा. क., ९. सपर्यवसित श्रुत ज्ञा. क, १०. अपर्यवसित श्रुत ज्ञा. क. ११. गमिक श्रुत ज्ञा. क. १२. अगमिक श्रुत ज्ञा क, १३. अंगप्रविष्ट श्रुत ज्ञा. क. १४ अंगबाह्य श्रुत ज्ञा. क.। इस प्रकार ये श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के १४ प्रकार हुए। अर्थात् अक्षरादि श्रुत ज्ञान के भेद से जो अक्षरादि का बोध होता था वह बोध अक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कारण नहीं होगा। इसी तरह सभी चौदह प्रकारों के श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कारण उस प्रकार के श्रुत का बोध नहीं होगा यह समझना चाहिए। बोध न कराना यह श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का कार्य है।

यह तो हुई १४ भेदों की बात। उसी तरह २० भेदों का स्वरूप भी ऐसा ही है। श्रुत ज्ञान के २० भेद के आच्छादक २० प्रकार के श्रुतज्ञानावरणीय कर्म इस प्रकार है—१. पर्याय श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म, २. पर्याय समास श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म, ३. अक्षर श्रुत ज्ञा. क., ४. अक्षर समास श्रुत ज्ञा. क. ५. पद श्रुत ज्ञा. क. ६. पद स. श्रुत ज्ञा. क., ७. संघात श्रुत ज्ञा. क., ८. संघात स. श्रुत ज्ञा. क., ९. प्रतिपति श्रुत ज्ञा. क., १०. प्रतिप्रति स. श्रुत ज्ञा. क., ११. अनुयोग श्रुत ज्ञा. क. १२. अनुयोग स. श्रुत ज्ञा. क., १३. प्राभृत-प्राभृत श्रुत ज्ञा. क., १४. प्राभृत-प्राभृत स. श्रुत ज्ञा. क., १५. प्राभृत श्रुत ज्ञा. क., १६. प्राभृत स.

श्रुत ज्ञा. क., १७. वस्तु श्रुत ज्ञा. क., १८. वस्तु स. श्रुत ज्ञा. क, १९ पूर्व श्रुत ज्ञा क, २०. पूर्व समास श्रुत ज्ञा. क. । इस तरह ये श्रुतज्ञानावरणीय के २० भेद बनते हैं । ये कर्म उन उन प्रकार से होने वाले श्रुतज्ञान के बोध को रोकते हैं । अर्थात् अक्षर से या पद से जो बोध होता था वह बोध उसी के आवरणीय कर्म के कारण नहीं होगा । माषतुष मुनि के विषय में यही हुआ । पद श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के उदय में आने के कारण एक पद भी सही रूप से पाठ नहीं हो पाया । अत: वे हमेशा "मा रुष-मा तुष" के स्थान पर माष तुष ही पाठ करते रहे । ऐसा ही सभी प्रकार के बीसों भेदों के कर्म उदय में आने से उन-उन तरीकों से होने वाले श्रुत का बोध नहीं होता है । उदाहरणार्थ आज हमारे में पूर्व एवं पूर्व समास श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म का उदय पड़ा हुआ होने के कारण एक पूर्व का या सभी पूर्वों का ज्ञान उदय में नहीं है । उस पूर्व के विषयों का सर्वथा अज्ञान ही उदय में है । इसी तरह सभी भेदों के विषय में समझना चाहिए । यदि तथा प्रकार के भेद का श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म उदय में नहीं होगा, या बंधा हुआ नहीं होगा, या सत्ता में ही पड़ा नहीं होगा तो उस प्रकार के श्रुत का बोध अवश्य होगा, अन्यथा इससे विपरीत यदि तथाप्रकार का श्रुतज्ञानावरणीय कर्म बंधा हुआ होगा और उदय में आया होगा तो उस प्रकार के श्रुत का बोध नहीं होगा । 'इन्द्रभूति गौतम' को वेद पद के एक श्लोक का अर्थ करते समय एक अक्षर "न" किस तरफ लगाना यह भ्रम हो गया और "न" को पिछले अन्तिम चरण के साथ लगाकर अर्थ करने से "आत्मा नहीं है" ऐसा अर्थ निकाला । आगे चलकर यही अर्थ उनके दिमाग में शंका का स्थान ले लेता है और उनकी वैसी मान्यता बन जाती है कि आत्मा नहीं है । एक अक्षर के भी सही ज्ञान की आवश्यकता रहती है । अक्षर श्रुतज्ञान से अक्षर का भी सही बोध होता है और अक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण उतना भी सही बोध नहीं हो पाता विपरीत हो जाता है क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म अज्ञान की तरफ अग्रसर करता है । ज्ञान को ढकना और अज्ञान को सामने लाना यह ज्ञाना-वरणीय कर्म का कार्य है । अत: ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म को बांधने से बचना चाहिए ।

शास्त्र पोथी बेचने चला

आज धर्मशास्त्र की कीमत कितनी है ? उसका महत्त्व कितना है ? धर्मशास्त्र के प्रति हमें आदर कितना है ? आज घरों में सजावट और दिखावे का प्रदर्शन चला है उसमें ५ १० लाख की फ्लेट या बंगला, और उसमें २-३ लाख का फर्नीचर होना चाहिये तथा उसके शो केस में १-२ लाख के कलाकृत्ति के चित्रादि होने चाहिए । ऐसी हवा चल पड़ी है । धर्मशास्त्र की पोथियों से शो बिगड़ता है । उससे कीड़े पड़ जाते हैं और फर्नीचर बिगड़ जाता है । मेहमान आने पर हमारे घर की शोभा की प्रशंसा नहीं करते । इत्यादि हेतुओं को आगे करके धर्मशास्त्रों की पोथियां या प्राचीन

धर्मग्रंथ बाजारों में सस्ते भाव से १-२ रुपए किलो के भाव में बेच दिए जाते हैं। रद्दी वालों को दे दिए जाते हैं। यह कितना ज्ञान के प्रति अनादर है? उसके स्थान पर अश्लील गन्दा एवं फिल्मी दुनिया का सस्ता साहित्य लाकर सजाते हैं। इसी में घर तथा घरवालों की शोभा बढती है। सोचिए! यह विचारणीय प्रश्न है कि नहीं? कितनी सोचनीय बात है? अब क्या परिणाम आएगा? ज्ञानोपासना हुई कि ज्ञान की आशातना हुई। ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन करने का भावी में क्या परिणाम आएगा?

एक बार की बात है एक निर्धन ब्राह्मण ने अपनी कुलदेवी की उपासना की। देवी प्रकट हुई। ब्राह्मण ने याचना की, देवी! कुछ भी दो, थोड़ी धन सम्पत्ति दो, सुवर्ण मुद्राएं दो, मेरी आर्थिक स्थिति बहुत खराब है। क्या करूं? देवी ने कहा— अरे विप्र! तेरे भाग्य मैं कुछ भी नहीं है। में कहां से दूं? भाग्य बिल्कुल खाली है, मैं क्या करूं? ब्राह्मण ने कहा, देवी! नहीं........नहीं........आप दैवी हो, दैवी शक्ति संपन्न हो, आप अवश्य दे सकते हो। देवी ने कहा........अरे! देने वाला भी भाग्य-पुण्य बल देखकर देता है। तेरे अशुभ कर्मों में दुःख-दारिद्रय-दौर्भाग्य ही लिखा है। अतः मैं क्या करूं? सोचिए—देने वाला भी आपके भाग्य या पुण्य बल को देखकर देता है। याचक ब्राह्मण ने हठाग्रह किया और देवी से देने के लिए आग्रह किया। देवी ने कहा—ठीक है-ले जा यह एक शास्त्र पोथी है, इसे तू ५०० रुपये में बेचना। बेचारा ब्राह्मण देवी की बात मानकर शास्त्र पोथी लेकर बेचने चला।

शायद उस शास्त्र पोथी को पढ़कर ज्ञान उपार्जन कर लिया होता तो कई कीमती बातें और ऊच्च कक्षा की चीजें उसमें लिखी हुई थी। अनेक सिद्धान्तों का निचोड़ प्रतिपादन था। पढ़कर विद्वान बना होता तो सर्वत्र पूजनीय बनता। दूसरों को पढ़ा कर अपनी आजीविका का वर्षों तक निर्वाह कर सकता था। परन्तु वह पोथी को न खोलता हुआ सिर्फ बेचने हेतु से गांव-गांव घूमता था। सच ही कहा है कि—

जहा खरो चन्दन भारवाही, भारस्स भागी नहु चन्दणस्य।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गईए॥

गधा जिस तरह चन्दन के काष्ठ को पीठ पर उठा कर चलता है परन्तु वह चन्दन की सुगन्ध का अनुभव नहीं कर पाता सिर्फ काष्ठ के भार को ही वहन करने वाला बनता है। ठीक उसी तरह चारित्र-आचरण रहित सिर्फ ज्ञान इकट्ठा करने वाला ज्ञानी भी ज्ञान का भी भागी कहलाता है परन्तु सद्गति का भागीदार नहीं बन पाता। यह सार है। ब्राह्मण बेचारा शास्त्र पोथी खोलकर एक सुवाक्य भी नहीं पढ़ पाता था परन्तु

पोथी को उठाकर गांव-गांव घूमता रहता था। बेचने के लिए सबको दिखाता रहता था। उस काल की बात थी–५००रुपये देकर पोथी कौन खरीदे ? १ वर्ष बीत गया। ब्राह्मण परेशान हो गया। अरे रे ! देवी ने पोथी क्यों दी ? देवी ने ही ५०० रुपये दे दिये होते तो भटकने की यह नौबत तो नहीं आती। आज भी बिना पढ़े पण्डित बनने की इच्छा वाले अनेक हैं। पढ़ना नहीं है, परिश्रम नहीं करना है परन्तु किसी तरह उपाधि डिग्री हांसिल करनी है। विद्वान बनना नहीं है। विद्वान है ऐसा दिखावा करना है। यह सरस्वती का कितना उपहास है ? बिना परिश्रम के विद्या उपार्जन न करते हुए भी विद्वता का दावा करना, विद्वान न होते हुए भी विद्वान है ऐसी कीर्ति, प्रशंसा प्राप्त करना, मान-सम्मान-पुरस्कार एवं पद प्राप्त करना यह भगवती सरस्वती का कितना छल गिना जाएगा ? परीक्षाओं को पास करने के ही हेतु से सिर्फ पढ़ना और वह भी किसी तरह परीक्षा पास करके उपाधि प्राप्त कर लेनी जिससे आजीविका चला सके। वर्तमान शिक्षा पद्धति का हेतु ज्ञानोपार्जन के बजाय अर्थोपार्जन रह गया है। Learning is only for Earning विद्या सिर्फ अर्थोपार्जन के लिए ही रह गई है। यह कितना निकृष्ट कक्षा का हेतु है। एक काल वह था जब विद्या दान से अर्थोपार्जन करना निकृष्ट कहलाता था। आज वह दूषण भूषण रूप में परिवर्तित हो गया है।

ब्राह्मण घूमता हुआ एक शहर में गया। बड़ी दूकान देखकर चढ़ा। मध्याह्न के समय पिता भोजन के लिए घर गये हुए थे और पुत्र दुकान की गद्दी पर बैठा हुआ था। ब्राह्मण ने शास्त्र पोथी हाथ में देते हुए कहा, देवी ने दी है इत्यादि सारी बात बता दी। लड़के ने पोथी खोल कर २-४ पन्ने पलटे........देखा और पढ़ा। उसे बड़ी कीमती बातें लगी। सोनेरी सुवाक्य लगे। एक वाक्य भी जीवन में उतर जाए तो जीवन पलट जाये। ऐसा लगते ही ५०० रुपये निकाल कर दे दिये। ब्राह्मण खुश होकर चला। पिताजी दुकान आये। एक पोथी के ५०० रुपये बेटे ने दिये यह सुनकर पिता आगबबूले हो गए। दो-चार चाँटें लगा दिये। मूर्ख कहीं का, निकल यहां से। एक पोथी के इतने रुपये दिये जाते हैं ? ऐसा कहकर बाप ने बेटे को निकाल दिया। सोचिए ! आज ५०० नहीं पाँच हजार कपड़े के लिए दिये जा सकते हैं। बूट-चप्पल के लिए ४००-५०० दिये जा सकते हैं। साड़ी खरीदने के लिए १००० से २००० दिये जा सकते हैं, घर सजावट की वस्तु के लिए तथा बर्तन आदि के लिए दो-पांच हजार मामूली बात लगती है। सबके लिए दिये जा सकते हैं परन्तु ज्ञान के लिए अच्छे धर्म शास्त्र-पुस्तक-प्रत के लिए खर्च नहीं किया जा सकता। धार्मिक पुस्तकें या अच्छा आदर्श साहित्य सस्ता या मुफ्त में चाहिए। जबकि गंदा साहित्य हजारों की कीमत चुका कर लाएँगे। धर्मशास्त्र, सद् साहित्य के प्रति आदर सद्भाव ही कहां है ? आज कितनों के घर में आदर्श साहित्य है ? कहा जाता है कि–Our Best Friends are our best Books. अच्छी पुस्तकें हमारे अच्छे मित्र के स्थान पर है।

एक मित्र जिस तरह कल्याण में निमित्त बन सकता है उसी तरह आदर्श ऊंचे साहित्य की एक पुस्तक शायद हमारे जीवन का ढांचा बदलने में काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह समझकर उस लड़के ने शास्त्र पोथी पढ़ी, उसके एक-दो वाक्य को जीवन में उतारकर वह जगत में महान बन गया।

ब्राह्मण जिसके भाग्य फूटे हुए थे, वह ५०० रुपये पाकर बहुत ही आनन्दित होते हुए वहां से चला। उसके भाग्य में सम्पत्ति नहीं थी। शहर के बाहर उसे लुटेरे मिले, उन्होंने चाकू-बन्दूक दिखाकर ५०० रुपये लूट लिये। रोता-पछताता हाथ मसलकर बेचारा घर गया। सिर पीटता रह गया। जहां भाग्य ही फूटे हो वहां कोई क्या कर सकता है? देवता आए तो भी क्या कर सकते हैं? वे देकर चले भी जाएं परन्तु भाग्य में नहीं है तो टिके कहां से? शास्त्र पोथी को पढ़कर ज्ञान उपार्जन कर लिया होता तो शायद वह ज्ञान उसके लिए कल्याणकारी ज़रूर सिद्ध होता। अतः आदर्श साहित्य सिर्फ सजावट के लिए नहीं होता है अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन एवं चिन्तन-मनन के लिए होता है।

आदर्श ज्ञान भण्डार

सैकड़ों वर्षों पहले की बात है जबकि मुद्रण पद्धति विकसी ही नहीं थी। ऐसे समय में भी हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अनेक शास्त्र लिखे। शून्य में से सर्जन किया। इतना ही नहीं लिखे हुए शास्त्र प्रतों की सैकड़ों-हजारों प्रतियां तैयार करवाई और भारत भर के विविध क्षेत्रों-प्रदेशों में चारों तरफ भिजवाकर ज्ञान भण्डार निर्माण करवाए। एक साथ सातसौ-सातसौ लेखकों (लहीयों) को बैठाकर आचार्यश्री हेमचन्द्राचार्यजी लिखवाते थे और गुजरात की गद्दी का राजा कुमारपाल ताडपत्र तथा भोजपत्रों की व्यवस्था करता था। सारा खर्च राज्य कोष से होता था। इस तरह यन्त्रयुग न होते हुए भी हजारों प्रतियां हाथ से लिखकर (हस्तलिखित) अनेक देश-विदेशों में सैकड़ों ज्ञान भण्डार समृद्ध कराए। जैनाचार्यों की यह अनुपम ज्ञान-सेवा थी। समूचे भारत देश के ज्ञान के खजाने की रक्षा-सुरक्षा एवं संवर्धन का कार्य करने में जैनाचार्यों एवं जैनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है यह सभी को निःसंदेह स्वीकारना ही पड़ेगा। जैन शासन की अनुपम सेवा की है। ज्ञान की उपासना का यह भी एक सुन्दर मार्ग है। अतः आज इतना समृद्ध ज्ञान का खजाना हमारे सामने उपस्थित हो सका है। यदि ऐसा ज्ञान तथा साहित्य नहीं मिला होता तो शायद क्या होता? इस संदर्भ में आठवीं शताब्दी के आचार्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज के शब्द इस प्रकार हैं—

कत्थ अम्हारिसा पाणी, दूसमा दोस दूसिया।
हा अणाहा कहं हुंता, न हुंतो जइ जिणागमो।

इस दूसम काल के दोष से दूषित ऐसे हमारे जैसे प्राणियों का क्या होता यदि जिनेश्वर के आगम जिनागम यदि नहीं होते ? सही बात है कि यदि ऐसे परम तारक सर्वज्ञ वीतराग भगवान के उपदेश स्वरूप जिनागम न होते, हमारे जैसों को पढ़ने के लिए नहीं मिले होते, तो आज हमारा क्या होता ? हमारा ज्ञान कहां से बढ़ता ? अज्ञान निवृत्ति कैसे होती ? अतः अनन्त उपकार मानते हैं आगम ग्रन्थ निर्माण करने वाले महापुरुषों का तथा उसकी व्याख्या करने वाले, उन्हें मुद्रित करने करानेवालों का तथा उनकी रक्षा-सुरक्षा एवं संवर्धन करने-करानेवालों का जिसके कारण आज वे आगम ग्रन्थ हमारे तक पहुँच सके, हमें प्राप्त हो सके। अतः ऐसे शास्त्र संग्रहालय-ज्ञान भण्डारादि अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यह भी ज्ञानाचार की उपासना है।

पुस्तकालय–वांचनालय

जैसे लोग पानी की प्याऊ लगाते हैं और प्यासों को पानी पिलाकर पुण्योपार्जन करते हैं। पानी जैसे जीवन का आवश्यक एवं उपयोगी अंग है ठीक वैसे ही ज्ञान-पिपासा का शमन करने के लिए साहित्य भी अत्यन्त उपयोगी एवं अनिवार्य साधन है। पानी की प्याऊ की तरह ज्ञान की प्याऊ के रूप में पुस्तकालय-वांचनालय भी अनिवार्य रूप से उपयोगी साधन है। जिससे वाचक की जिज्ञासा-ज्ञान पिपासा सन्तोषी जा सकती है। आदर्श उच्च विचारधारा वाले सत्साहित्य का संचय तथा प्रकार के पुस्तकालय-वांचनालय में होना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से समाज का प्रत्येक मानव सम्पन्न नहीं हो सकता है। दूसरी तरफ साहित्य मुद्रण आदि भी महगा होता जा रहा है। सर्व प्रकार का साहित्य खरीदना या बसाना यह सब के वश की बात भी नहीं रह गई है। ऐसी स्थिति में उच्च कक्षा के आदर्श साहित्य से समाज के लोग वंचित न रह जाय अतः पुस्तकालय-वांचनालय अत्यन्त उपयोगी है। ये सही अर्थ में ज्ञान मन्दिर के रूप में उपयोगी है। प्रत्येक व्यक्ति पुस्तकों को प्राप्त कर सके, पढ़ सके। क्योंकि चिन्तन के लिए सही खुराक मिलने से, अच्छी विचारधारा मिलने से सम्भव है दुर्जन-सज्जन बन जाय, अनेकों की विचारधारा में परिवर्तन आ सकता है। साहित्य एक अच्छे कल्याण मित्र की तरह उपकार करता है। अतः ऐसे पुस्तकालय-वांचनालय ज्ञान-मन्दिर के रूप में निर्माण करके जन-जन तक उच्च ज्ञान पहुँचाना यह ज्ञान की सुन्दर सेवा है। समाज का तथा देश एवं व्यक्ति का उद्धार करने का यह एक उत्तम विकल्प है।

साहित्य मुद्रण एवं प्रचार

साहित्य समाज का दर्पण है। समाज का प्रतिबिम्ब साहित्य रूपी दर्पण में पड़ता है। सामाजिक दूषणों को दूर करने के लिए सत् साहित्य का प्रचार-प्रसार

करना ही चाहिए। उसके लिए साहित्य का मुद्रण कराना यह भी ज्ञानाचार की उपासना है। शर्त यही कि वह साहित्य उच्च कक्षा का हो। हल्का न हो। सात्विक विचारधारा की पुष्टि करनेवाला हो सच ही कहा है कि—"सा विद्या या विमुक्तये" विद्या वही है जो मुक्ति के लिये हो। 'ज्ञानस्य फलं विरति" ज्ञान का फल यही है कि वह विरति को प्राप्त करावे। विरति अर्थात् पाप की निवृत्ति। यदि ज्ञान पाप की निवृत्ति न करावे तो क्या फायदा ? उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की आद्यकारिकाओं की प्रथम कारिका में कहा है कि—

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःख निमित्तमपिदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥

सम्यग् दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा से युक्त ऐसा जो ज्ञान वह यदि विरति (पाप निवृत्ति) को प्राप्त करावे तो दुःख से प्राप्त हो सके ऐसा यह मनुष्य जन्म भी सुलब्ध-सुलभ हो सकता है। अतः शक्कर मिश्रित दूध जिस तरह मधुर बनता है उसी तरह ज्ञान भी सम्यग् दर्शन-सच्ची श्रद्धा से युक्त हो तो ही उपादेय एवं उपकारी बनता है। अन्यथा मिथ्या ज्ञान घातक बनता है। इसीलिए ज्ञान के विषय में सम्यग् ज्ञान की महत्ता है। सम्यग् शास्त्रों का पुस्तकों का मुद्रण कराना, मुद्रण में उचित सहयोग प्रदान करके प्रचार-प्रसार करना-करवाना यह भी ज्ञानाचार की उपासना है। ज्ञान योग की साधना है।

सम्यग् ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान

सच्ची श्रद्धा पूर्वक सही ज्ञान जो हो उसे सम्यग् ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जीवादि तत्त्वों के यथार्थ-वास्तविक ज्ञान को सम्यग् ज्ञान कहते हैं। परन्तु यह वास्तविकता, यथार्थता या सत्यता स्वनिर्मित या कल्पित नहीं होनी चाहिए। अपितु सर्वज्ञोपदिष्ट वस्तुगत वास्तविकता होनी चाहिए परन्तु जैसी वस्तु है वैसा स्वरूप हमें कहना चाहिए। इसीलिए कहा है कि Right is might but might may not be Right जो सत्य है वही मेरा है परन्तु जो मेरा है वह सत्य नहीं भी हो सकता है। सम्यग् दृष्टि के विचार ऐसे होने चाहिए। हम वस्तु को सही न्याय दे सकें इसलिए सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् ज्ञान की पूरी आवश्यकता रहती है। जीव तत्त्व हो या मोक्ष तत्त्व हो किसी भी तत्त्व का वही स्वरूप हमें मानना या जानना चाहिए जो सर्वज्ञोपदिष्ट हो, सर्वज्ञ कथित शास्त्र निर्दिष्ट हो, न कि स्वकपोल कल्पित हो, या स्वमति की नीपज न हो। तभी ही वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान कहलाएगा। इसीलिए आगम शास्त्र में सम्यग् दर्शन की व्याख्या बताते हुए कहा है कि—"**जं जिणेहिं पवेइयं तमेव निःसंकं सच्चं**" जो सर्वज्ञ ऐसे जिनेश्वर भगवंतो के द्वारा प्ररूपित किया

गया हो वही शंका रहित सत्य है । ऐसी मान्यता रखनी यह सम्यग् दर्शन-सच्ची श्रद्धा है । सम्यग् दर्शन से तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा निर्माण होती है । जिस तरह दूध में शक्कर डालने से दूध मीठा मधुर बनता है उसी तरह सम्यग् दर्शन के मिलने से ज्ञान भी सम्यग् सही बनता है । अन्यथा ज्ञान मिथ्याज्ञान के रूप में ही रहता है । अतः शास्त्रकार महर्षि यहां तक कहते हैं कि सम्यग् दृष्टि साधक यदि मिथ्याशास्त्र भी पढ़ता है तो वे उसे सम्यग् रूप में ही परिणमते हैं । उसके सम्यग् दर्शन की वृद्धि में ही सहायक बनता है । क्योंकि दृष्टि सम्यग् है अतः वह ज्ञान भी सम्यग् रूप में ही परिणत होगा । ठीक इससे विपरीत मिथ्यादृष्टि यदि सम्यग् शास्त्र भी पढ़ता है तो उसकी मिथ्यादृष्टि ही रहेगी । क्योंकि प्रथम जब तक दृष्टि श्रद्धायुक्त नहीं बनती वहां तक उसे सम्यग् शास्त्र भी लाभकर्ता सिद्ध नहीं हो सकते । अतः पहले दृष्टि सुधार आवश्यक है । यह दृष्टि चाक्षुष या चक्षु-दृष्टि से सम्बन्ध नहीं रखती । यह आन्तरदृष्टि से सम्बन्धित है । अतः सम्यग् दृष्टि यह आन्तर दृष्टि है, सच्ची श्रद्धा है, तत्त्वों की वास्तविकता एवं यथार्थता को स्वीकारने की मान्यता है । इसी सम्यग् दृष्टि से युक्त ज्ञान भी सम्यग् ज्ञान बनता है । ठीक इससे विपरीत मिथ्या दृष्टि का ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान या विपरीत ज्ञान कहलाता है । मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञानरूप होता है । अतः सम्यग् दर्शन एवं ज्ञान आत्मा के लिए साधक एवं सहायक होते हैं जबकि मिथ्याज्ञान बाधक एवं हानिकारक होता है । अतः साधक को सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना ही चाहिए ।

सर्वज्ञोपदिष्ट ज्ञान—सम्यग् ज्ञान

सर्वज्ञोपदिष्ट ज्ञान को ही सम्यग् ज्ञान क्यों कहा जाय ? क्यों नहीं अन्य किसी के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को सम्यग् ज्ञान कहा जाय ? यह प्रश्न यहाँ उचित है । अतः विचार किया जाना चाहिए । छद्मस्थ अर्थात् अपूर्ण ज्ञानी एवं रागी-द्वेषी सत्य का चरम स्वरूप नहीं बता सकता इसलिए सत्य की चरम सीमा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मूल स्रोत सर्वज्ञ—केवलज्ञानी (पूर्णज्ञानी) तथा वीतरागी का होना अनिवार्य है । वे ही आवश्यक है । एक तरफ जो वीतरागी है उसके लिए असत्य बोलने का कोई कारण ही नहीं है । क्योंकि असत्य राग-द्वेष के कारण ही बोला जाता है । राग के घर में माया तथा लोभ गिने जाते हैं तथा क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के अन्तर्गत गिने जाते हैं । अतः ये चारों क्रोध-मान-माया तथा लोभ कषाय के रूप में हैं इन्हीं के कारण मनुष्य असत्य का सेवन करता है । उसी तरह भय तथा हास्य भी असत्य सेवन में कारण है । ये सभी रागी-द्वेषी में ही होते है । इन राग द्वेष का सर्वथा क्षय करके जो वीतरागी-वीतद्वेषी हो जाता है उसमें क्रोधादि कषायों की तथा भय-हास्यादि राग-द्वेष की अंश मात्र भी मात्रा नहीं रहती । अतः वे वीतरागी कहलाते हैं । ऐसे वीतरागी के लिए असत्य बोलने

का तनिक भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः उनके लिए असत्य बोलना सम्भव भी नहीं है।

एक तरफ तो वीतरागता प्राप्त कर चुके हैं और दूसरी तरफ सर्वज्ञता (पूर्णज्ञान) भी प्राप्त कर चुके हैं। अब किसी विषय का ज्ञान शेष नहीं रहता है। समस्त ब्रह्माण्ड के लोकालोक के अनन्त पदार्थों का अनन्त वस्तु विषयक ज्ञान प्राप्त हो चुका है। वीतरागता की प्राप्ति के कारण असत्य बोलने का कोई कारण या प्रयोजन ही नहीं रहा है तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति के कारण असत्य प्रतिपादन का कोई विषय ही नहीं रहा है। किस विषय में असत्य बोलें? क्योंकि जगत के सभी अनन्त विषयों का ज्ञान संपूर्ण परिपूर्ण है। किसी भी विषय का या एक भी विषय का ज्ञान अधूरा अपूर्ण नहीं हैं तो फिर किस विषय में असत्य बोलें? असत्य प्रतिपादन में अज्ञान भी प्रबल कारण है। तथा सर्वज्ञ केवली में सर्वथा अज्ञान की सम्पूर्ण निवृत्ति ही हो चुकी है। अज्ञान का अंश भी नहीं रहा है तो फिर असत्य किस विषय में बोलें? तथा वीतरागता प्राप्त होने के कारण असत्य किसलिए—क्यों बोलें? इसीलिए जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं वीतराग है उनके कथन (वचन) पर ही सम्पूर्ण श्रद्धा रखनी सम्यग् दर्शन (श्रद्धा) है। अतः सर्वज्ञोपदिष्ट तत्त्व का ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। यह निर्विवाद सत्य है। इसलिए ठीक ही कहा कि है—"**जं जं जिणेहिं पवेइयं तमेव निःसंकं सच्चं**"। "जो जो सर्वज्ञ और वीतराग ऐसे जिनेश्वर भगवंतो ने प्रतिपादित किया है वही शंका रहित रूपसे सत्य है" ऐसा मानना या स्वीकारना ही सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन युक्त ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान कहलाता है यही सत्य ज्ञान कहा जाता है।

सर्वज्ञोपदिष्ट श्रुत—"शास्त्र"

शास्त्र ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं। क्योंकि श्रुत का अर्थ है सुना हुआ। किससे सुना हुआ? ऐसा प्रश्न जरूर उठता है क्या मेरे और आपके द्वारा सुना हुआ शास्त्र कहलाएगा? नहीं। तो फिर श्रुत से शास्त्र अर्थ कैसे लिया जाय? उत्तर में कहते हैं कि जिनको वीतरागता और केवलज्ञान (अनंतज्ञान) प्राप्त हो चुका हो ऐसे सर्वज्ञ भगवान से सुना हुआ कथन या उपदेश ही श्रुत कहलाता है। सर्वज्ञ केवली भगवान समवसरण में बिराजमान होकर अर्थ रूप से जो उपदेश देते हैं उसे उनके प्रमुख शिष्य गणधर भगवान् सूत्र रूप में रचना करते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ॥ आ. नि.॥

अर्थात् अरिहंत भगवान अर्थ से देशना देते हैं और निपुण ऐसे गणधर भगवान उस देशना को सुनकर शासन के हितार्थ उसे सूत्र बद्ध रूप से गुंथते हैं। वही श्रुतज्ञान के रूप में प्रवृत्त होता है। गुरु शिष्य की परम्परा में वह श्रुतज्ञान दीर्घ काल तक चलता रहता है। गुरु शिष्य को कंठस्थ कराते रहते थे और शिष्य उस श्रुतज्ञान को मुखोद्गत रखते थे। शिष्य गुरु से पूछते थे कि भगवान ने क्या बताया है? और गुरु कहते थे कि भगवान ने इस प्रकार बताया है। जैसा कि आगमों का अवलोकन करने से उपरोक्त बात सही अर्थ में देखी जा सकती है। सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी दोनों गुरु शिष्य थे। शिष्य जम्बूस्वामी गुरु से पूछते थे कि– **"तेणं भगवया किं अक्खायं?"** उन भगवान ने क्या कहा है? गुरु सुधर्मास्वामी प्रत्युत्तर में कहते थे कि–**"तेणं भगवया एवं अक्खायं"** उन भगवान ने ऐसा कहा है। इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सर्वज्ञ केवली भगवान से ही सुना हुआ ज्ञान गुरु शिष्य की परम्परा में चलता रहता है। कुछ काल तक प्रबल स्मरण शक्ति के आधार पर सारा ही श्रुतज्ञान स्मृति पटल पर ही अंकित रहा। परन्तु स्मृति की न्यूनाधिकता के कारण कालान्तर में जाकर वही श्रुतज्ञान ग्रन्थ रूप में अंकित हुआ। ग्रन्थाकार श्रुतज्ञान को ही शास्त्र नाम दिया गया है। उसे ही आगम शास्त्र भी कहते हैं। अतः आज हमारे पास जितने भी शास्त्र है। उन सभी पर सर्वज्ञ केवलज्ञानी की मुहर लगी हुई है। जैसे किसी निर्मित वस्तु पर Made in India आदि की लगी हुई छाप से वस्तु कहां की है यह पता चलता है, ठीक वैसे ही श्रुतज्ञान के शास्त्रों पर सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान की मुहर लगी हुई है अतः शास्त्रों का मूल स्रोत सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान है। इसलिए शास्त्र या श्रुतज्ञान सर्वज्ञोपदिष्ट कहा जाता है।

सर्वज्ञसदृश-श्रुतकेवली....

जैसे अनंतज्ञान से केवलज्ञानी सर्वज्ञ कहलाते हैं, वैसे ही समस्त श्रुतज्ञान का सूक्ष्मतम अवलोकन करने वाले श्रुतकेवली के रूप में गिने जाते हैं। सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान ने अपने अनंतज्ञान से पदार्थ का जो स्वरूप बताया है, वैसा ही स्वरूप श्रुतकेवली अपने श्रुतज्ञान के आधार पर बता सकते हैं क्योंकि श्रुतकेवली भी परोक्ष रूप से सर्वज्ञ की बात को ही कहते हैं। सर्वज्ञ केवलज्ञानी द्वारा उपदिष्ट जो श्रुतज्ञान परम्परा में चलता हुआ श्रुतकेवली के पास आया है, उसी श्रुतज्ञान के आधार पर श्रुतकेवली केवलज्ञानी जैसी ही प्ररुपणा कर सकते हैं। इस विषय में एक दृष्टांत शास्त्रों में आया है।

एक बार स्वर्गाधिपति इन्द्र महाराज महाविदेह क्षेत्र में गये। जहां सीमंधर-स्वामी भगवान समवसरण में बिराजमान होकर देशना दे रहे थे। इन्द्र ने भी समवसरण में बैठकर प्रभु की देशना श्रवण की। देशना समाप्ति के बाद प्रभु से

पूछकर निगोद का सूक्ष्म स्वरूप स्पष्ट रूप से समझा। जिज्ञासापूर्वक प्रभु से पूछा कि—हे भगवन् ! जैसा आपने निगोद का सूक्ष्मतम स्वरूप मुझें समझाया है क्या वैसा ही अभी भरतक्षेत्र में कोई समझा सकता है ? क्योंकि वर्तमान में भरतक्षेत्र में कोई केवलज्ञानी नहीं है। उत्तर में सीमधरस्वामी भगवान ने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र ! भरतक्षेत्र में वर्तमान में आर्य कालकसूरि (कालकाचार्य) श्रुतज्ञान के आधार पर मेरे जैसा ही निगोद का स्वरूप समझा सकेंगे।

यह सुनकर इन्द्र महाराजा एक वृद्ध का रूप लेकर भरतक्षेत्र में आचार्य कालकसूरि के पास आये। परीक्षा करने हेतु से वृद्ध का रूप लेकर लकड़ी के सहारे झुककर चलते हुए और लम्बी श्वास के साथ आहें भरते हुए इन्द्र महाराजा आर्य कालकसूरि के पास आकर पूछने लगे—हे कृपालु ! मैं बहुत ही वृद्ध हूँ, वृद्धावस्था से दुःखी भी हूं, अतः आप मेरी हस्तरेखा देखकर यह बताइये कि अब मेरा कितना आयुष्य शेष है ? मेरे ऊपर बड़ी कृपा करिये, क्योंकि मैं अकेला हूं, मेरे पुत्रों ने घर से निकाल दिया है। इसलिए अब ऐसा लगता है कि आयुष्य जल्दी पूरा हो जाय तो बहुत अच्छा। अतः कृपया हाथ देखकर बताइये कि कितना आयुष्य शेष है ? कहिये भगवन् ! ....क्या पाँच वर्ष ? या दस वर्ष ?

यह सुनकर गुरु महाराज ने कहा—इससे और ज्यादा।

इन्द्र ने पूछा—क्या बीस वर्ष ? या पचास वर्ष ?

गुरु महाराज ने कहा—और ज्यादा—बहुत ज्यादा।

इन्द्र—अरे भगवन् ! बहुत वृद्ध हो गया हूँ। अब कितना जीना बाकी है ?

आर्य कालकसूरि ने कहा—हे इन्द्र ! बार-बार क्या पूछते हो ? आप तो स्वर्गाधिपति इन्द्र हो, और २ सागरोपम में कुछ कम इतना आयुष्य शेष है।

बस इतना सुनकर इन्द्र महाराज समझ गये कि महाराज ज्ञानी हैं, और मुझे सही अर्थ में पहचान गये हैं। इन्द्र ने अपना मूल स्वरूप बना लिया। हाथ जोड़कर इन्द्र ने कालकाचार्य से निगोद का सही सूक्ष्म स्वरूप पूछा। उत्तर में कालकसूरि ने निगोद का सही एवं शुद्ध स्वरूप बताया। यह सुनकर इन्द्र महाराज ने प्रसन्न होकर कहा कि—सीमंधरस्वामी भगवान की कही हुई हकीकत सत्य साबित हुई, बस इतना कहकर इन्द्र महाराज अपने स्थान पर चले गये।

यह है श्रुतकेवली का स्वरूप, सही बात है कि श्रुतज्ञानी अगाध श्रुतज्ञान का अवधारण करके केवलज्ञानी सर्वज्ञ जैसा स्वरूप प्रतिपादित कर सकते हैं क्योंकि सर्वज्ञ द्वारा ही उपदिष्ट श्रुतज्ञान परम्परा की विरासत के रूप में श्रुतज्ञानी को

मिला है । सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का मंथन करके श्रुतज्ञानी, श्रुतकेवली बनते हैं जो कि केवली न होते हुए भी केवली सदृश प्रतिपादन कर सकते हैं ।

श्रुतिज्ञान का क्षयोपशम

श्रुतज्ञान के ऊपर आये हुए कर्म के आवरण को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं । यह श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान को ढक देता है जिससे श्रुत शास्त्र का ज्ञान अल्प प्रमाण में रहता है । जिसका जितना श्रुतज्ञानावरणीय कर्म उदय में होगा उतना ही उसे श्रुत-शास्त्र का ज्ञान कम होगा । ठीक इसी तरह जिसका जितना श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्यादा होगा उतना ही उसे श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र का ज्ञान ज्यादा प्राप्त होगा । अतः शास्त्रज्ञान की न्यूनाधिकता का आधार श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर है । भूतकाल के इतिहास में ऐसे अनेक महापुरुषों के नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित है, जो महान श्रुतज्ञानी, शास्त्रज्ञ एवं मर्मज्ञ कहे जाते थे । महान् ज्ञानी गीतार्थ गिने जाते थे । उदाहरणार्थ—उमास्वाती महाराज, सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराज, हरिभद्रसूरि महाराज, हेमचन्द्राचार्य महाराज, वादिदेवसूरि आदि अनेक महापुरुषों के नाम इतिहास में प्रसिद्ध है । हेमचन्द्राचार्य महाराज को अगाध शास्त्रज्ञान के आधार पर कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि दी गई है अर्थात् इस कलियुग के सर्वज्ञ तुल्य विद्वान माने जाते थे ।

पाँच ज्ञानों में दूसरे क्रम पर स्थित यह श्रुतज्ञान भी अपना वैशिष्ट्य रखता है । परन्तु इस पर आच्छादित श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ने इसका प्रमाण घटा दिया है । विशेष रूप से श्रुत-शास्त्र, ज्ञान-ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण की आशातना से उपार्जित किया हुआ ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को ढक देता है । परिणामस्वरूप पुस्तक ग्रन्थ एवं शास्त्रादि का ज्ञान नहीं बढ़ पाता है । एतदर्थ श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अर्थात् नाश करने का लक्ष्य बनाना पड़ेगा, और उसके लिए श्रुतज्ञान की उपासना करनी पड़ेगी । श्रुतज्ञान की उपासना के लिए श्रुतज्ञान के बताये गये १४ या २० प्रकार का आलम्बन लेना पड़ेगा ।

तीर्थंकर भगवंतो को जन्म से ही श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हुआ रहता हैं । अतः वे जन्मतः ही पूर्ण श्रुतज्ञानी होते हैं । मति, श्रुत और अवधिज्ञान तीनों ही पूर्ण रूप से होने के कारण तीर्थंकर भगवान जन्म से तीन ज्ञान के स्वामी कहलाते

हैं। इसलिए उन्हें बाल्यावस्था से ही पढ़ने आदि की आवश्यकता नहीं रहती। आज हमारा श्रुतज्ञानावरणीय कर्म अधिक है और श्रुतज्ञान का प्रमाण अल्प है। फिर भी श्रुतज्ञान की उपासना की तरफ पुरुषार्थ का प्रमाण कम ही देखा जाता है। अतः श्रुत-शास्त्र आदि का ज्ञान बढ़ाने की इच्छा वाले को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करना ही एक मात्र विकल्प है और वह ज्ञान-ध्यान-स्वाध्यायादि श्रुतोपासना से ही सम्भव है। उसके लिए ज्ञानाचार की उपासना शास्त्रों में बताई गई है। जैसे किसी रोग की कोई औषधि होती है, जो रोग को मिटाती है। वैसे ही ज्ञानाचार युक्त ज्ञानोपासना रूपी औषधि से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म रूपी रोग मिटता है, शरीर में शक्ति की तरह आत्मा में ज्ञान का खजाना बढ़ता है। अतः ज्ञानाचारानुसारी ज्ञानोपासना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय एवं क्षयोपशम करने के लिए औषधि तुल्य कार्य करती है। कल्पातित देवलोक के अनुत्तर स्वर्ग एवं सर्वार्थसिद्ध विमान आदि के देवता आयुष्यभर शास्त्रीय विषयों के चिन्तन-मनन में तल्लीन रहते हैं। अद्भुत ज्ञानोपासना करते हैं। वर्तमान में ज्ञानोपासना के बजाय ज्ञान की आशातना एवं विराधना का प्रमाण अधिक दृष्टिगोचर होता है जिसके फलस्वरूप शास्त्रज्ञानादि भी अल्प प्रमाण में ही दिखाई देता है।

अभयदेवसूरि की श्रुतोपासना

नवांगी वृत्तिकार प्रसिद्ध आचार्य महाराजश्री अभयदेवसूरिजी हुए हैं। जिन्होंने अपने आयुष्यकाल में ४५ आगमों में प्रमुख जो ११ अंगसूत्र कहे जाते हैं। उनमें से ९ अंगसूत्र की वृत्तियाँ बनाई हैं। अतः वे नवांगी वृत्तिकार कहे जाते हैं। मूल अंगसूत्र जो कि अर्धमागधी भाषा में सारगर्भित स्वरूप में थे, उनका भावार्थ स्पष्ट करने के लिए पूज्यश्री ने संस्कृत भाषा में विस्तार से टीकाएँ लिखी हैं। जिनमें कई पदार्थों का विस्तार से विवेचन किया है। लिखने में समय कम पड़ता था। इसलिए आचार्यश्री ने अपने भोजनकाल में से समय बचाने के लिए आयम्बिल की तपश्चर्या शुरू की। आयम्बिल में एक ही समय रूक्ष एवं निरस भोजन करने से दूसरा समय काफी बचता था। इस तरह समय बचाकर उन्होंने ९ अंगसूत्रों पर सारगर्भित, महत्त्वपूर्ण वृत्तियाँ लिखी। लिखते-लिखते करीब १२ वर्ष बीत गये। धाराप्रवाह बद्ध रूप से लिखते ही जा रहे थे। ऐसे समय में उन्हें आशाता वेदनीय कर्म जन्य रोग का उदय हुआ। फिर भी रोग की चिन्ता किये बिना लिखते ही गये। भावी पीढ़ी

के विद्वानों को यह ज्ञान प्राप्त हो इसलिए उन्होंने शास्त्रों की बहुत बड़ी सेवा की है।

वर्तमान ४५ आगम शास्त्र

अंगसूत्र		उपांगसूत्र		पयन्ना		छेदसूत्र		मूलसूत्र			
११	+	१२	+	१०	+	६	+	४	+	२	= ४५
										अनुयोग द्वार तथा नन्दिसूत्र	

इग्यार अंग उपांग बार, दश पयन्ना जाणिये
छ छेद ग्रन्थ पसत्थ सत्था, मूल चार वखाणिये ।।
अनुयोगद्वार उदार नन्दिसूत्र जिनमत गाइये,
वृत्ति-चूर्णी-भाष्य पिस्तालीश आगम ध्याइये ।।

आगम अर्थात् पवित्र धर्मशास्त्र/गणधर भगवंतो द्वारा रचित द्वादशांगी एवं १४ पूर्व आदि में से वर्तमान में ४५ आगम ही शेष रहे हैं। जिनकी संख्या ऊपर बताई गई है। यद्यपि अंगसूत्रों की संख्या १२ थी परन्तु कालान्तर में बारहवें अंगसूत्र "दृष्टीवाद" के विच्छेद होने से वर्तमान में अंगसूत्र ११ ही प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। इनमें भगवान महावीरस्वामी का मुख्य उपदेश संग्रहीत है। यही जैन शासन में ज्ञान का अपूर्व खजाना गिना जाता है। इतिहास में इन आगमों पर अनेक वृतियाँ, चूर्णीयाँ, भाष्य एवं टीकाएँ लिखी गई। अनेक महापुरुषों ने शास्त्र सेवा का यह महान् कार्य क्रिया है। पूज्य शीलांकाचार्य ने प्रथम दो अंगसूत्र–आचारांग एवं सूत्रकृतांग की टीकाएं लिखी थी। तथा शेष ९ अंगसूत्रों की टीका लिखने का श्रेय पूज्य अभयदेवसूरिजी महाराज को जाता है। इस तरह यह श्रुतज्ञान या शास्त्रज्ञान एक अगाध महासागर हैं। जिस तरह एक महासागर की सीमा का कोई अन्त नहीं हैं उसी तरह श्रुत शास्त्र रूपी महासागर का भी कोई अन्त नहीं हैं। जैसे गोताखोर लोग समुद्र में डुबकियाँ लगाकर मोती या रत्न निकाल सकते हैं वैसे ही अगाध श्रुतसागर में चिन्तन की डुबकियाँ लगाकर महापुरुषों ने तत्त्व रूपी रत्न निकाले हैं। इस बात का प्रमाण स्तुतियों मे प्रत्येक

की तीसरी स्तुति जो आगम एवं श्रुत शास्त्रज्ञान के विषय में की जाती है उससे पता चलता है। उदाहरणार्थ—

(१) "कल्लाण कंदं" नामक स्तुति में तीसरी "निव्वाण मग्गे वरजाण कप्पं"

(२) "संसारदावा" की स्तुति में तीसरी स्तुति —

"बोधगाधं सुपदपदवी नीरपूराभिरामं" इसमें श्रुतज्ञान की एक अगाध सागर के साथ तुलना की गई है। जिसके लिए "सारंवीरा गमजल निधिं" इत्यादि शब्द प्रयोग किये गये।

(३) "स्नातस्या" की प्रसिद्ध स्तुति में तीसरी स्तुति—

"अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितं द्वादशांगं विशालं"

स्तुति में अरिहंत भगवान के मुख से निकली हुई वाणी और गणधर भगवंत द्वारा उसका जो गुंथन किया गया है वही द्वादशांगी आगम कहलाता है। इस तरह अनेक स्तुतियां देखने पर प्रत्येक की तीसरी स्तुति सदा ही आगम या श्रुत शास्त्र सम्बन्धी होगी। जिनमें श्रुतज्ञान की प्रशस्ति मिलेगी।

प्रमाण का स्वरूप

प्रमाणशास्त्र में कई प्रमाणों का विचार किया गया है। जिसका संक्षिप्त स्वरूप निम्न तालिका में दर्शाया है—

- प्रमाण
  - प्रत्यक्ष
    - सांव्यवहारिक
      - ऐन्द्रियप्रत्यक्ष
      - अतीन्द्रिप्रत्यक्ष
        - अवग्रह
        - ईहा
        - अवाय
        - धारणा
          - मतिज्ञान
          - श्रुतज्ञान
    - पारमार्थिक(आत्मप्रत्यक्ष)
      - क्षायोपशमिक
        - अवधिज्ञान
        - मन:पर्यवज्ञान
      - क्षायिक
        - केवलज्ञान
  - परोक्ष
    - स्मृति
    - प्रत्यभिज्ञान
    - तर्क
    - अनुमान
    - आगम

ज्ञानोत्पति की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से ज्ञान होता है। अतः इन दोनों को प्रमाण रूप गिना गया हैं। उपरोक्त तालिका में किये गये निर्देशानुसार प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद होते हैं। प्रत्यक्ष के साँव्यवहारिक और पारमार्थिक दो भेद होते है। साँव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। अतः साँव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ऐन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये दो भेद बनते हैं। पांचों इन्द्रियां और छट्ठा अतीन्द्रिय-मन इन ६ से ये दो प्रत्यक्ष होते हैं। इन दोनों का ज्ञान १. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय और ४. धारणा इन चार भेद से होता है।

इन्हीं चारों से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है। (जिनका विवेचन पहले किया गया है।) अतः मतिज्ञान और श्रुतज्ञान साँव्यवहारिक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से उत्पन्न होते हैं।

प्रत्यक्ष का दूसरा भेद पारमार्थिक प्रत्यक्ष जो है उसे ही आत्मप्रत्यक्ष या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं। क्योंकि यह बिना किसी इन्द्रियों की मदद से सीधे आत्मा से होता है एवं परमार्थ को जानता है अतः पारमार्थिकप्रत्यक्ष या आत्मप्रत्यक्ष कहा जाता है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक एवं क्षायिक के भेद से दो प्रकार का होता है। आत्मा के ऊपर जिन कर्मों का आवरण है उनका जितने अंश में क्षयोपशम एवं क्षय होगा उतने अंश में पारमार्थिक ज्ञान प्रकट होगा। जब उन-उन ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होगा तब अवधिज्ञान और मनः-पर्यवज्ञान होगा। अतः क्षायोपशमिक पारमार्थिक प्रत्यक्ष के (१) अवधिज्ञान और (२) मनःपर्यवज्ञान ये दो भेद कहलाते हैं। ये दोनों ज्ञान बिना किसी इन्द्रिय की मदद के सीधे आत्मा से ही होते हैं। अवधिज्ञान से आत्मा सीधे ही दूरस्थ रूपी पदार्थों का साक्षात्कार करती है। उसी तरह मनःपर्यवज्ञान से मन वाले संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों अथवा विचारों को सीधे ही जान सकती है। पारमार्थिक क्षायिक प्रत्यक्ष सर्वथा घाती कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न होता हैं अतः उसे पूर्णज्ञान या केवलज्ञान कहते हैं। इसे ही अनन्त ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञान से सम्पूर्ण लोकालोक के अनन्त पदार्थों का एवं उनके गुण व पदार्थों का भी एक साथ ज्ञान होता है। यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष के क्षायिक केवलज्ञान का स्वरूप हुआ। बिना किसी इन्द्रिय की मदद से सीधे आत्मा से केवलज्ञान के द्वारा समस्त ब्रह्मांड के अनंत द्रव्य-गुण-पर्यायों का एक साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

परोक्षज्ञान का स्वरूप

उपरोक्त तालिका में बताये अनुसार परोक्ष प्रमाण के पांच भेद होते हैं। "परोक्षं च स्मृति प्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमभेदात् पंच प्रकारम्।" अर्थात् (१) स्मृति

(स्मरण), (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) ऊह (तर्क), (४) अनुमान, (५) आगम (शब्दप्रमाण) आदि पांच भेद परोक्ष प्रमाण के होते हैं।

(१) स्मृति (स्मरण) प्रमाणः—"तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृत्तिः।" संस्कार से उत्पन्न अनुभव किये हुए पदार्थ में "वह है" इस प्रकार के स्मरण होने को स्मृति कहते हैं उदाहरणार्थ यह जिन प्रतिमा है।

(३) प्रत्यभिज्ञानप्रमाण—"अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तद् जातीय एवायं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादिः।" वर्तमान में किसी वस्तु के अनुभव करने पर और भूतकाल में देखे हुए पदार्थ का स्मरण होने पर तिर्यग्सामान्य (वर्तमान कालवर्ती एक जाति के पदार्थों में रहने वाला सामान्य) और ऊर्ध्वतासामान्य (एक ही पदार्थ के क्रमवर्ती सम्पूर्ण पर्यायों में रहने वाला सामान्य) आदि को जानने वाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उदाहरण दिया है कि (१) यह गोपिण्ड उसी जाति का है (२) यह गवय गौ (गाय) के समान है, (३) यह वही जिनदत्त है। उपमान प्रमाण का जैन तार्किकों ने इसी प्रत्यभिज्ञानप्रमाण में समावेश किया है। अतः उपमान को अलग से स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है परन्तु प्रत्यभिज्ञान को ही प्रमाण माना है।

(३) ऊह (तर्क) प्रमाणः—उपलम्भानुपलम्भसम्भवंत्रिकालीकलित साध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्कापरपर्यायः। यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा।

उपलंभ और अनुपलंभ से उत्पन्न, त्रिकाल कलित, साध्य साधन के सम्बन्ध आदि से होने वाले—'इसके होने पर यह होता है,' इस प्रकार के ज्ञान को ऊह अथवा तर्क के नाम से प्रमाण रूप माना जाता है। उदाहरणार्थ—(१) अग्नि के होने पर ही धुम होता है, अग्नि के न होने पर धूम नहीं होता है।

(४) अनुमानप्रमाणः—अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्रान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहण-संबंधस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।

अनुमानप्रमाण

स्वार्थानुमान	परार्थानुमान

अनुमान के दो भेद होते हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। (१) स्वार्थानुमान—अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ग्रहण करने के सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं।

(२) परार्थानुमान—पक्ष और हेतु कहकर दूसरे को साध्य के ज्ञान करने को परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान को उपचार से अनुमान कहा गया है।

(५) आगम (शब्द) प्रमाणः—आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। "उपचारादाप्तवचनं च" इति।

आप्त के वचन से पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे आगम या शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्तस्तु यथार्थ वक्ता यथार्थ बोलने वाले को ही आप्त पुरुष कहते हैं। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से आप्त पुरुष दो प्रकार के होते हैं। सर्वज्ञ लोकोत्तर आप्त महापुरुष के वचन को आगम कहते हैं। आगम प्रमाण से अनेक पदार्थों का ज्ञान होता है। इस तरह जैन दार्शनिकों ने स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, ऊह, अनुमान और आगम प्रमुख परोक्ष प्रमाण के पाँच प्रकार दर्शाये हैं। अन्य उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, प्रातिभ, ऐतिह्य आदि प्रमाणों का उपरोक्त पांच में ही अन्तर्भाव होता है। अतः इन्हें स्वतन्त्र रूप से अलग गिनने की आवश्यकता नहीं है। सन्निकर्ष आदि को जड़ होने के कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। इस तरह यह ज्ञानोत्पत्ति प्रक्रिया में प्रमाण के स्वरूप का विवेचन किया है। आगमप्रमाण के आधार पर ही जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, बंध-निर्जरा, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक तथा मोक्षादि तत्त्वों का स्वरूप सही अर्थ में यथार्थ रूप से जान सकते हैं।

स्वसंवेद्य-ज्ञान

ज्ञान स्व-संवेद्य कहा जाता है। संवेद्य अर्थात् अनुभूति। ज्ञान की अपनी अनुभूति अर्थात् संवेदन स्वतः ही होता है न कि स्वेतर संवेद्य। जिस तरह एक दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती है वैसे ही एक ज्ञान

के लिए दूसरे अर्थात् स्व इतर अर्थात् अपने से भिन्न ज्ञान की अपेक्षा मानने वाले भिन्न दर्शन है। परन्तु जैन दर्शन ज्ञान को स्वसंवेद्य ही मानता है। इस विषय में ग्रीक दार्शनिक प्लूटो (Plato) का मत है कि—Knowledge is nothing but it is Intutional अर्थात् ज्ञान बाहर से नहीं आता परन्तु अन्दर से ही (आत्मा में से ही) उद्भव होता है ज्ञान आत्मा की नीपज हैं। ज्ञान आत्मा का झरना है। ज्ञान का मूल उद्गम स्रोत आत्मा ही है। ज्ञान और आत्मा गुण-गुणी भाव से अभेद स्वरूप है। ज्ञान गुण है और आत्मा द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् गुणी है। गुण-गुणी में आधार-आधेय सम्बन्ध है अतः **"ज्ञानाधिकरणमात्मा"** न कहकर जैन दर्शन ने **"ज्ञानमयो एवायमात्मा"** अर्थात् आत्मा ज्ञानमय ही है। यदि ज्ञान का अधिकरण आत्मा को माने तो भेद सम्बन्ध आता है, जबकि यहाँ अभेद सम्बन्ध है। यह अभेद भाव दिखाने के लिए **"ज्ञानमयो एवायमात्मा"** यह कहा गया है। यही वाक्य अभेद भाव को दिखाता है। अतः ज्ञानमय ही आत्मा है। ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। जैसे सूर्य से सूर्य की किरणें भिन्न नहीं हैं तथा दीपक से दीपक का प्रकाश जिस तरह भिन्न नहीं है उसी तरह आत्मा से ज्ञान भिन्न नहीं है। यह अभिन्नता एवं अभेद दिखाने के लिए ज्ञानमय ही आत्मा कही गई है। अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है। अतः आत्मा का ज्ञान स्वसंवेद्य ही है। स्वेतर संवेद्य नहीं है।

अवधिज्ञानावरणीय कर्म और अवधज्ञान

प्रत्यक्ष के पारमार्थिक भेद में जो नोइन्द्रियप्रत्यक्ष अर्थात् आत्मप्रत्यक्ष की बात की गई है, उसमें क्षायोपशमिक पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद में अवधिज्ञान गिना गया है। यहाँ अवधि शब्द से क्षेत्रीय मर्यादा ली गई है। समस्त ब्रह्मांड में क्षेत्र अनंत अमर्यादित है। इसके सीमित क्षेत्र की किसी निश्चित मर्यादा तक होने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है। इसका यह अर्थ है कि लोक परिमित क्षेत्र के स्वर्ग नरक आदि लोक या ऊर्ध्व अधोलोक के सीमित क्षेत्र की मर्यादा या अवधि तक के रूपी पुद्गल पदार्थों का साक्षात्कार होना यह अवधिज्ञान का स्वरूप हैं। यह ज्ञान आत्मप्रत्यक्ष होने के कारण अर्थात् बिना किसी इन्द्रिय की मदद के सीधे आत्मा से होता है। अतः अवधिज्ञान में इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती है। तत्रस्थ अर्थात् उस-उस क्षेत्र की सीमा में पड़े हुए रूपी पुद्गल पदार्थों को अवधिज्ञानी

अपने स्थान पर रहे हुए ही प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। पुस्तक नं. ४ पृष्ठ संख्या २३० से अवधिज्ञान के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन किया गया है अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं करते हैं।

अवधिज्ञानावरण ना, क्षय थी थया चिद्रूप।
ते आवरण दहन भणी, ऊर्ध्व गति रूप धूप।।

शुभवीरविजयजी महाराज चौंसठ प्रजारी पूजा के चौथी ढाल में उपरोक्त दोहे के क्षय से जो चिद्रूप हो चुके हैं उनकी धूप पूजा रूपी भक्ति करते हुए हम भी उस अवधिज्ञान के आवरण का क्षय कर सकें यह भाव रखा हैं।

मुख्य रूप से अवधिज्ञान के भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक ये दो भेद किये गए हैं भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान स्वर्गस्थ देवताओं और नरक के नारकी जीवों को जन्मतः होता है। जिस तरह पक्षिओं में जन्मतः उड़ने का स्वभाव होता है उसी तरह देवता और नारकी जीवों को जन्मतः अवधिज्ञान होता है। गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान जन्मतः नहीं होता है। यह मनुष्य और पशु-पक्षिओं को ही होता है। अतः गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान के अधिकारी मनुष्य और तिर्यंच गिने जाते हैं। गुण-प्रत्ययिक अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है। संसारी आत्मा के प्रत्येक गुणों पर कर्म के आवरण हैं। पांचों प्रकार के ज्ञान आत्मा के ज्ञान गुण के अन्तर्गत है। अतः इन पांचों ज्ञान के उपर कर्म के आवरण भी लगे हुए है। अवधिज्ञान के आवरक कर्म को अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है। जैसे बादलों के हटने से सूर्य दिखाई देता है ठीक वैसे ही उन-उन कर्मों रूपी बादलों के हटने अर्थात् क्षय एवं क्षयोपशम से उस उस प्रकार के ढके हुए गुण प्रकट होते हैं। यहाँ पर अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ही अवधिज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। विशेषावश्यक भाष्य के ५७५ वें श्लोक में यह दर्शाया है कि—

उदयक्खय–क्खओवसमो-वसमा जं च कम्मणो भणिया।
दव्वं-खित्त-काल-भवं च भावं च संपप्प।।

कर्म के जो उदय-क्षय-क्षयोपशम और-उपशम कहे गये हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव और भव इन पांच के निमित्त को पाकर होता है। नन्दिसूत्र में कहा है कि—**कोह हेऊ खायोवसमियं? खायोवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं**

अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुप्पज्जति । अहवा गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणणं समुप्पज्जति ।

अवधिज्ञान को क्षायोपशमिक पारमार्थिक भेद में गिना गया है । किस कारण क्षायोपशमिक में गिना है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि तदावरणीय अर्थात् अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयावलिक में प्राप्त कर्म पुद्गल परमाणुओं के क्षय से और अनुदीर्ण अर्थात् उदय में न आये हुए कर्म का उपशमन करने से अर्थात् क्षयोपशम भाव से अवधिज्ञान प्रकट होता है । तथा तपादि गुण विशेष से कर्म का क्षयोपशम होने के कारण यह गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान कहा जाता है । **"संखाईयाओ खलु ओहिण्णास्स"** भाष्य के आधार पर यद्यपि अवधिज्ञान के संख्यातीत भेद बनाए गये हैं । परन्तु मुख्य रूप से ६ भेद प्रचलित हैं ।

अणुगामि-वड्ढ माणहीय, पडीवाईयर-विहा छहा ओही । (१) अनुगामि (२) अननुगामि, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) प्रतिपाति, (६) अप्रतिपाति इस तरह ये मुख्य भेद गिने गये हैं । अनुगामि के भी (१) अन्तगत और मध्यगत ये दो भेद होते हैं ।

जिस तरह अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अवधिज्ञान आच्छादित भी हो जाता है । तथाप्रकार की अशुभ प्रवृत्ति से ये गुण नष्ट भी हो जाता है । शास्त्र में एक प्रसंग ऐसा आता है कि—

एक मुनि महात्मा अपनी प्रतिलेखन की क्रिया (पडिलेहण) करके कचरा निकाल रहे थे, उस कचरे को इकट्ठा करके फेंकने (परठवने) के बाद इरियावही की क्रिया करते समय भाव की विशुद्धि से अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान प्रकट हुआ । महात्मा अवधिज्ञानी बने । अवधिज्ञान उत्पन्न होते ही बिना किसी इन्द्रिय की मदद से स्वर्ग-नरकादि दिखाई देने लगे । ऊर्ध्व क्षेत्र के देवलोक का पहला स्वर्ग दिखाई दिया । महात्मा ने देखा कि प्रथम स्वर्गाधिपति सौधर्मेन्द्र अपनी प्रियतमा इन्द्राणी को मना रहे थे । इन्द्राणी कुछ नाराज थी अतः इन्द्र उन्हें मना रहे थे । बड़े ही दीन भाव से विनती करके मनाते हुए सौधर्मेन्द्र को देखकर क्षण भर में मुनि महात्मा को हंसी आ गई । कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े-खड़े महात्मा हंसने लगे ।

इस हंसने का परिणाम यह आया कि हास्य मोहनीय कर्म विशेष के कारण महात्मा का अवधिज्ञान चला गया। अर्थात् नष्ट हो गया। पुनः अवधिज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो गया। इससे यह समझ में आता है कि किसी तरह कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान प्रकट होता है और कर्म के उदय से ज्ञान कैसे नष्ट होता है।

आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान

उपन्यो अवधिज्ञाननो, गुण जेहने अविकार।
वन्दना तेहने माहरी, श्वास मांहे सो वार॥

विजय लक्ष्मीसूरि महाराज ने ज्ञानपंचमी के देववंदन में पांचों ज्ञानों का स्वरूप वर्णन करते हुए अवधिज्ञानी को नमस्कार करते हुए लिखा है कि—अवधिज्ञान का अविकारी गुण जिसे भी प्राप्त हुआ हो उस अवधिज्ञानी महात्मा को मेरी एक श्वास में सौ बार वंदना हो। ऐसा अवधिज्ञान भूतकाल में अनन्तात्माओं को प्राप्त हो चुका है। आगमों के ११ अंगसूत्रों में सातवें अंगसूत्र "उपासकदशांग सूत्र" में भगवान महावीर प्रभु के परम उपासक ऐसे दश श्रेष्ठ श्रावकों का वर्णन आता है। जिसमें आनन्द श्रावक का सर्व प्रथम वर्णन है। गृहस्थ संसारी आनन्द व्यापारी ने महावीर प्रभु के पास देश विरति धर्म योग्य श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये। प्रतिवर्ष व्रतों की मर्यादा में संक्षिप्तीकरण करते-करते आन्नद श्रावक सर्वथा निष्परिग्रही हो गया था और चावल का पानी आदि लेते थे। इस तरह उपासकदशांग आगम में आनन्द श्रावक के त्याग-तप का अनुपम वर्णन किया गया है। १४ वर्ष की अनुपम साधना करते-करते आनन्द श्रावक ने अन्त में संथारा लेकर मात्र पैर फैला सके इतनी ही भूमि में संथारा करके अनशन कर लिया था। ऐसे परमोपासक आनन्द श्रावक के भाव विशुद्धि के बल पर अवधिज्ञानावरणीय एवं अवधिदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान एवं अवधिदर्शन प्राप्त हुआ। ऐसा ज्ञान होते ही आनन्द श्रावक को काफी लम्बे-चौड़े क्षेत्र तक स्पष्ट दिखाई देने लगा। अवधिज्ञान से अवधिज्ञानी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कहां तक कितना जान सकते हैं व देख सकते हैं इस विषय में विस्तृत वर्णन नन्दि सूत्र में तथा विशेषावश्यक भाष्य में किया गया है।

आनन्दश्रावक को इस अवधिज्ञान-अवधिदर्शन से अनेक द्वीप समुद्रादि दिखाई देने लगे। योगानुयोग ऐसे समय श्री वीरप्रभु के आद्य गणधर अनन्तलब्धि निधान

श्री गौतम स्वामी पधारे। आनन्द श्रावक ने भाव भरी वन्दना करते हुए विनती की कि—हे भगवान् संस्तारक (संथारे) से बाहर भूमि का त्याग किया हुआ होने के कारण मैं बाहर पैर नहीं रखना चाहता अतः हे कृपालु! आप समीप पधारो ताकि मैं आपके चरण स्पर्श कर सकूं। गौतम स्वामी पधारे और आनन्द श्रावक ने भावपूर्वक निवेदन किया कि हे कृपालु! आपकी असीम कृपा से मुझे अवधिज्ञान-अवधिदर्शन प्राप्त हुआ है और इतने ऊपर देवलोक तक तथा अधो एवं तिर्छी दिशाओं में इतना-इतना दिखाई दे रहा है।

यह सुनते ही गौतम स्वामी ने कहा—हे आनन्द! गृहस्थाश्रम में श्रावक को इतनी सुदीर्घ अवधि तक का अवधिज्ञान नहीं हो सकता, अतः मृषावचन का "मिच्छामिदुक्कडं" दे दीजिए।

आनन्द श्रावक–हे कृपानाथ! क्या महावीर प्रभु के शासन में सत्य वचन का भी मिच्छामिदुक्कडं दिया जाता है?

गौतम स्वामी–नहीं-नहीं। मृषावचन का ही दिया जाता है।

आनन्द श्रावक–हे कृपालु! तो फिर मिच्छामिदुक्कडं मुझे देना चाहिए कि आपको?

गौतम स्वामी–आनन्द! इस विषय में मैं समवसरण में जाकर प्रभु को पूछ लेता हूं

इतना कहकर गौतमस्वामी समवसरण में गए और प्रदक्षिणा पूर्वक वंदना करके निवेदन किया कि—हे भवोदधितारक देवाधिदेव! मिच्छामिदुक्कडं मुझे देना चाहिए या आनन्द को?

अवधिज्ञान आणंद ने दिए, मिच्छामिदुक्कडं गोतमस्वामी।

परमकरुणा के सागर श्री महावीर प्रभु ने फरमाया— गौतम! मिच्छामिदुक्कडं तुम्हें देना चाहिए।

अत्यन्त सरल स्वभावी विनम्र एवं नवनीत की तरह कोमल हृदयवाले गौतमस्वामी मध्याह्न की तेज धूप होते हुए भी आहार-पानी की गोचरी एक तरफ रखकर यथाशीघ्र सीधे आनन्द श्रावक को मिच्छामिदुक्कडं देने गए।

गौतमस्वामी-हे श्रावक श्रेष्ठ ! भूल मेरी है, अतः मैं मिच्छामिदुक्कडं देने के साथ क्षमायाचना करता हूँ। तुम्हारा कहना सही है तुम्हें हुआ अवधिज्ञान-अवधिदर्शन सही है।

कितनी अगाध सरलता थी ! कितनी महान पापभिरूता थी ? दोष शुद्धि की कितनी तत्परता थी ! धन्य महामना लब्धिनिधान गौतमस्वामी। इस तरह गृहस्थाश्रमी अवस्था में श्रावक कक्षा में भी भावविशुद्धि एवं क्षयोपशम के आधार पर अवधिज्ञान अवधिदर्शन प्राप्त होता है।

मनः पर्यवज्ञान

पांच प्रकार के ज्ञानों में चार ज्ञान श्रावकावस्था में प्राप्त होने सुलभ है। परन्तु चौथा मनःपर्यवज्ञान श्रावक की कक्षा में संसारी अवस्था में कदापि नहीं होता। यह सिर्फ संसार के त्यागी विरक्त वैरागी छट्ठे-सातवें गुणस्थान के स्वामी साधु-महात्माओं को ही होता है।

श्री मनः पर्यव ज्ञान छे, गुण प्रत्ययी ए जाणो।
अप्रमादि ऋद्धिवंतने, होय संयम गुणठाणो।।
कोइक चारित्रवंतने, चढ़ते शुभ परिणामे।

चौथा मनःपर्यवज्ञान भी गुणप्रत्ययिक है। सयम-चारित्र के जो दो गुणस्थानक है- छट्ठा प्रमत्त संयत, और सातवां अप्रमत्त संयत। इन दो गुणस्थानक पर रहे हुए अप्रमादि ऋद्धिवंत चारित्रधारी संयमी मुनि महात्मा को ही शुभ भाव के परिणामों में चढ़ते-चढ़ते ही होता है। **मुनि वेषज विनारे, नवि उपजे दो भेदे नाणः।** अर्थात् साधु वेष के बिना यह दोनों भेद वाला मनःपर्यवज्ञान श्रावक को नहीं होता है। तीर्थंकर भगवान को भी जन्मतः मति-श्रुत और अवधि ३ ज्ञान ही होते हैं। चौथा मनःपर्यवज्ञान उन्हें भी नहीं होता है क्योंकि गृहस्थावस्था में संसारी होने के कारण। परन्तु संसार छोड़ते ही और चारित्र स्वीकारते ही हो जाता है। यह बात स्तुति से स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

प्रभुजी सर्व सामायिक उच्चरे, सिद्ध नमी मद वारीजी;
छद्मस्थ अवस्था रहे छे जिहां लगे, योगासन तप धारीजी।
चोथुं मनःपर्यव तव पामे, मनुज लोक विस्तारीजी;
ते प्रभु ने प्रणमो भवि प्राणी, विजयलक्ष्मी सुखकारीजी।।

इस स्तुति में पू. विजयलक्ष्मीसूरि महाराज कहते हैं—संसारी गृहस्थावस्था का त्याग करके सिद्ध भगवान को "नमो सिद्धाणं" पद से नमस्कार करके, मद-मानादि का त्याग करके भगवान जब स्वयं सर्व विरति सामायिक अर्थात् सर्व सावद्य पाप से मुक्त होने स्वरूप यावत् जीवन काल पर्यन्त तक के साधुपने योग्य चारित्र धर्म स्वीकार करके अणगार साधु बनते हैं, और उस साधुपने में जहां तक छद्मस्थावस्था रहती है अर्थात् सर्वज्ञ केवलज्ञानी एवं वीतराग नहीं बन जाते हैं वहां तक योगासन में तपश्चर्या करते हुए रहते हैं। ऐसी दीक्षा ग्रहण करते समय तीर्थंकर भगवान को चौथा मन:पर्यवज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे प्रभु को हे भवि प्राणी भाव पूर्वक प्रणाम करो।

अत: इससे यह सिद्ध होता है कि–चौथे मन:पर्यवज्ञान के अधिकारी एक मात्र संसार के त्यागी-वैरागी विरक्त तपस्वी चारित्रधारी साधु मुनि भगवंत ही होते हैं। यह ज्ञान गृहस्थाश्रमी संसारी अवस्था में नहीं प्राप्त होता है। एक मात्र सर्व विरति धर्म संयमी साधु को ही। यदि गृहस्थाश्रमी संसारी अवस्था में होता तो तीर्थंकर भगवंतो को भी हो गया होता। वे भी जन्मत: या गृहस्थाश्रम से ही चतुर्ज्ञानी कहलाते। परन्तु शास्त्रों में जन्मत: तीन ज्ञानी कहा है चतुर्ज्ञानी जन्मत: नहीं कहा है। शास्त्रों में अनेक चरित्र ग्रन्थों में, अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्र वर्णन में कहीं पर भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है कि गृहस्थाश्रमी संसारी अवस्था में किसी को भी चौथा मन:पर्यव ज्ञान प्राप्त हुआ हो ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं मिलता है। नन्दि सूत्र आदि आगम ग्रन्थों में भी यही स्पष्ट किया गया है कि—चौथा मन:पर्यव ज्ञान चारित्र धारी संयमी साधु को ही हो सकता है।—"**गोयमा! इड्ढिपत्त-अपमत्तसंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं,"—उप्पज्जइ।** (नन्दिसूत्र)

हे गौतम! ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयत-अर्थात् जिनकल्पि सम्यग् दृष्टि, आहारादि षट् पर्याप्तियुक्त पर्याप्तनामकर्मवान् संख्येय वर्ष अर्थात् पूर्वकोटी वर्षायुष्यवाले उसमें भी १५ कर्मभूमि में उत्पन्न कर्म भूमिक्षेत्रज गर्भज मनुष्य ऐसे को ही चौथा मन:पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। इस तरह नन्दिसूत्र में कहा है।

यह चौथा मन:पर्यवज्ञान मन:पर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है। तथा इस कर्म का क्षयोपशम सर्वविरति चारित्र विशेष से एवं तपादि की

साधना विशेष से होता है। तथा प्रकार के कर्मावरण के क्षयोपशम के बाद ही यह मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का मुख्य कार्यक्षेत्र-संज्ञि पंचेन्द्रिय मनुष्य क्षेत्रस्थ जीवों के मनोगत भावों को जानने का होता है। इसी ज्ञान से किसी के मन के विचार जाने जा सकते हैं। अन्यथा नहीं। किसी भी संज्ञि पंचेन्द्रिय जीव जो कि ढाई द्विप परिमित मनुष्य क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हुआ हो उसने अपने मन में जो भी कुछ चिन्तन किया हो, सोचा हो उसके मनोगत भावों को मनः-पर्यवज्ञानी जान सकते हैं प्रत्यक्ष जान लेते हैं और क्षण मात्र में ही कह सकते हैं कि आपने मन में जयपुरी लाल घडे के बारे में सोचा है।

भगवान महावीर प्रभु ने वैशाख सुदी ११ की तिथि के दिन समवसरण के प्रवेश द्वार पर वादविवादार्थ आए हुए ईन्द्रभूति गौतम आदि ११ विद्वान पंडितों को उनके मन की शंका का स्वरूप प्रकट करते हुए सहर्ष आमंत्रित किया। यह सुनकर गौतमादि सभी आश्चर्यचकित हो गये। अरे! हमारे मन की शंका को कैसे जान गये? बस सारा अभिमान का पर्वत गिरकर चूर-चूर हो गया। वे सभी पंडित ठंडे हो गये। आगे फिर सर्वज्ञ प्रभु से शंका का समाधान करके तत्त्वों का सही स्वरूप समझ कर प्रभु के चरण कमल में शिष्यत्व-दासत्व स्वीकार करके उनके आजीवन शिष्य बने।

मनःपर्यवज्ञान का विस्तृत वर्णन पुस्तिका नं. ४ में किया गया है। पाठक गण विशेष ज्ञानवृद्धि के लिए नन्दिसूत्र तथा विशेषावश्यक भाष्यादि ग्रन्थ अवश्य पढें। आज इस कलियुग के वर्तमान काल में काल के असर के नीचे हम सभी हैं। अतः आज ऐसा मनःपर्यवज्ञान किसी को भी नहीं है, और न ही किसी को प्राप्त होता है। यह विच्छेद गया हुआ है। इस सिद्धान्त को सही रूप से समझकर यदि कोई कहता है कि मुझे प्राप्त है, मुझे ऐसा ज्ञान है तो उसे मिथ्याभाषी समझना चाहिए।

एक लाख पीस्तालीश हजार, पांचशे एकाणु जाणीये।
मननाणी मुनिराज, चोवीश जिनना वखाणीये॥

चौवीस तीर्थंकर भगवन्तों के कुल मिलाकर १४५५९१ एक लाख पैंतालीस हजार पांच सौ एक्यानवे है। यह संख्या ज्ञानपंचमी के देववंदन में लक्ष्मीसूरि

महाराज ने बताई है। यह मन:पर्यवज्ञान होने वाले आत्मा इसी भव में मोक्ष में जाते हैं। तद्भव मोक्षगामी कहलाते हैं।

ए गुण जेहने उपन्यो, सर्व विरति गुणठाण।
प्रणमुं हितथी तेहना, चरण कमल चित्त आण॥

सर्वविरति गुणस्थानक पर यह गुण जिसे भी प्रकट हुआ हो अर्थात् ऐसे स्वरुप का मन.पर्यवज्ञान जिसे भी प्राप्त हुआ हो उनके चरण-कमल का चित्त में ध्यान करके हित बुद्धि से प्रणाम करता हूं।

केवलज्ञान का स्वरुप वर्णन

चौथी प्रवचन पुस्तिका में पृष्ठ २३९ से केवलज्ञान का वर्णन अत्यन्त अल्प प्रमाण में किया है। प्रस्तुत अधिकार में यहाँ पर केवलज्ञान तथा केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है? इसकी प्रक्रिया क्या है? यह तथा केवली के स्वरुप का वर्णन करना है। पाँचोंज्ञान में केवलज्ञान यह पाँचवां तथा अन्तिम ज्ञान है। इतना ही नहीं, परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में यह अन्तिम चरम सीमा का ज्ञान है। बस इसके बाद आगे ज्ञान-ज्ञेय की बात ही नहीं है। अत: ऐसे केवलज्ञानी ही चरम अन्तिम कक्षा के ज्ञानी कहलाते हैं। यहीं ज्ञान की अन्तिम सीमा का अन्त है। केवलज्ञान की प्राप्ति होने के बाद ही कोई भगवान बनते हैं। तभी ही आत्मा परमात्मा बनती है। वर्तमान काल में केवलज्ञान तो क्या कवलज्ञान (खाने-पीने के ज्ञान) का भी पूरा ठिकाना नहीं है और भगवान बन बैठते हैं। अपने आप स्वयं भगवान बन जाते हैं। यह भगवद् स्वरूप की कितनी घोर आशातना है? कितना बड़ा मजाक है। संसार के रागी, पाप प्रवृत्ति के पुरस्कर्ता, भुक्तभोगी, विषय-वासना के कीड़े ऐसे रागी-द्वेषी अपने आपको स्वयं भगवान कहते हैं या कहलवाते हैं। यह शराबी के नशे की तरह एक प्रकार के पागलपन के सिवाय और क्या है? कम से कम भगवान बनने की प्रक्रिया को तो जानें, और भगवान का स्वरूप तो समझें। फिर उस दिशा में भूतकाल में हुए उन सर्वज्ञ महान भगवानों के साथ तुलना करके तो सोचें। फिर आगे विचार करें। परन्तु हाय इस कलियुग की अधमता की यह निशानी है कि वर्तमान काल में अधमकक्षा के हीन जीव भगवान बन बैठे हैं और मूढ लोग भी अज्ञानतावश उन्हें भगवान की तरह मानकर उनके पीछे नरक की खाई में गिरते जा रहे हैं। पाप करना यह भूल है, और भूल करे वह भगवान नहीं कहलाता तथा जो

भगवान होते हैं वे भूल नहीं करते। बस सामान्य मानवी इतनी सी छोटी बात के अच्छी तरह समझकर चले तो शायद वह ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे बन बैठे भगवानों या भागे हुए भगवानों से अपने आपको बचा सके।

घाती-अघाती कर्म

कर्म—८

घाती कर्म—४

ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय अंतराय
प्रकृतियाँ—५ + ९ + २८ + ५ +

कुल ४७ प्रकृतियों में से ४५ प्रकृतियाँ घाती हैं। इनमें भी २० प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। शेष देशघाती हैं। इन्हें ही घनघाती नाम से भी कहते हैं। घाती

सर्वघाती २०

देशघाती २५

अघाती कर्म—४

नाम गोत्र वेदनीय आयुष्य
१०३ + २ + २ + ४ = १५८

कुल १११ प्रकृतियाँ

ये सभी अघाती प्रकृतियाँ हैं। आत्मा के गुणों का सर्वथा घात नहीं कर सकती है।

४७ घाती + १११ अघाती = कुल १५८ कर्म प्रकृतियाँ

८ मूल कर्मों में यह विभाजन किया गया है।

घाती कर्मों के क्षय से—केवलज्ञान

पाँच प्रकार के ज्ञानों में प्रथम के चार ज्ञान क्षयोपशम जन्य हैं। अतः वे क्षायोपशमिक कहलाते हैं। जबकि पाँचवां केवलज्ञान क्षायिक है। यह क्षयोपशम जन्य नहीं है। क्षयोपशम की प्रक्रिया में कर्म का सर्वथा क्षय नहीं होता है। कुछ अंश क्षय होता है और कर्म का कुछ उपशमन होता है। अतः उभय मिश्रित भाव का स्वरूप है क्षयोपशम। प्रथम के चार ज्ञानों में उस उस ज्ञानावरणीय कर्म से कुछ अश का क्षय होता है तथा कुछ कर्मांश का उपशमन होता है अतः कुछ अंशों में ज्ञानावरणीय कर्म का अंश शेष रहता है। अतः वे ज्ञान सर्वांशग्राही नहीं है। जबकि पाँचवें केवलज्ञान की प्रक्रिया ऐसी नहीं है। इसमें क्षयोपशम नहीं, परन्तु सर्वांश का सर्वथा क्षय होता है। अतः केवलज्ञान क्षायिक है। यह क्षायिक भाव से प्रकट होता है पहले के चार ज्ञान अपने-अपने आवश्यक ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट

हो जाते हैं, जबकि केवलज्ञान के लिए ऐसा नहीं है कि यह सिर्फ केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से ही प्रकट हो जाय ! नहीं । न सिर्फ केवलज्ञानावरणीय कर्म या न ही सिर्फ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से यह होता है, अपितु चारों घाती कर्मों की सर्व प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से केवलज्ञान होता है । इतना इनमें अन्तर है । अतः चार ज्ञान क्षायोपशमिक भाव जन्य है और पाँचवां केवलज्ञान क्षायिक भाव जन्य है । क्षायोपशमिक की प्रक्रिया में ज्ञान सर्वांश संपूर्णरूप से प्रकट नहीं होता है । अतः उस ज्ञान का ज्ञानावरणीय कर्म शेष रहता है जबकि केवलज्ञान चारों घाती कर्मों के सर्वथा सम्पूर्ण रूप से क्षय होने के बाद ही क्षायिक भाव से उत्पन्न होता है । अतः केवलज्ञान की उत्पत्ति के बाद ज्ञानावरणीय कर्म का या चारों घाती कर्म की प्रकृतियों का अंश मात्र भी उदय या सत्ता नहीं रहती । वे सर्वथा क्षय अर्थात् समूल नष्ट हो जाते हैं अतः केवलज्ञान पूर्ण-सम्पूर्णरूप से सर्वग्राही, सर्वांशग्राही, सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायग्राही होता है । अतः इसे अनन्त वस्तु विषयक ज्ञान कहते हैं । इसीलिए यह अनन्त ज्ञान के रूप में कहलाता है ।

घाती कर्मों के क्षय की प्रक्रिया

मुख्यरूप से आत्मा के ज्ञानादि प्रमुख गुणों का घात करने वाले चार घाती कर्म हैं । इन घाती कर्मों के कारण आत्मा के ज्ञानादि गुण ढके हुए आच्छादित हैं, दबे हुए हैं । इन ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने के लिए इन्हीं घाती कर्मों का क्षय करना एक मात्र विकल्प है—(1) ज्ञानावरणीय, (2) दर्शनावरणीय, (3) मोहनीय और (४) अन्तराय—ये चार घाती कर्म आत्मा का जितना नुकसान करते हैं, उतना अघाती कर्म नहीं करते हैं । इन चार घाती कर्मों के क्षय की प्रक्रिया में देखा जाय तो मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है । इसे (King of Karma) कर्मों का राजा कहा जाता है । चार घाती कर्मों का क्रम देखने से ऐसा लगता है कि पहले ज्ञानावरणीय का क्षय करना पड़ेगा । इसके क्षय से जब पूरा ज्ञान प्रकट हो जायेगा तथा उस पूर्ण ज्ञान की मदद से मोहनीय कर्म का क्षय कर सकेंगे । ऐसा ऊपरी दृष्टि से जरूर लगता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । ज्ञानादि गुणों को दबाने में तथा ज्ञानावरणीय कर्म की लगाम अपने हाथ में रखने का कार्य भी मोहनीय कर्म करता है । अतः वाचक मुख्यजी उमास्वाति महाराज का कहना है कि मोहनीय कर्म का प्रथम क्षय करना होगा तब बाद में शेष तीन घाती कर्मों का भी क्षय हो जाएगा, और क्षय होते ही केवलज्ञानादि गुण प्रकट हो जायेंगे । अतः तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में दिया

है कि—"मोहक्षयात्–ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलम्"
मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः केवलज्ञानादि की प्राप्ति में मोहनीय का क्षय भी अनिवार्य है। वह भी सबसे पहले मोहनीय का क्षय होना जरूरी है।

गुणस्थानकों की साधान में कर्म क्षय

जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा के आच्छादित गुणों का प्रकटीकरण होता जाता है। उन-उन गुणों को प्राप्त करती हुई आत्मा मोक्ष की दिशा में अग्रसर होती है। अतः उन-उन गुणों के स्थान पर आत्मा जहां जिस स्वरूप में स्थित होती है उन्हें गुणस्थान कहते हैं। ऐसे १४ गुणस्थान जैन दर्शन में बताए गए हैं। इसे The Way of Soulvation या The Way of the Emancipation of the Soul मोक्ष मार्ग या आत्मा का मार्ग कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए तथा प्रकार के गुणों को होना आवश्यक है। अतः गुणस्थानक को मोक्ष मार्ग बनाया गया है। जिन गुणों को प्राप्त करती हुई आत्मा आगे बढती है ऐसे १४ गुणस्थान बताए गए हैं। (इनका विस्तृत वर्णन योग्य स्थान पर करेंगे।) उनके नाम इस प्रकार है।—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) अविरति सम्यग् दृष्टि, (५) देश विरति सम्यग् दृष्टि, (६) सर्व विरति प्रमत्त, (७) सर्व विरति अप्रमत्त (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिबादर, (१०) सूक्ष्मसंपराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली, और (१४) अयोगी केवली।

कर्म क्षय और गुण प्राप्ति

इन १४ गुणस्थानकों की साधना में आगे चढ़ना तभी संभव है जब आत्मा उन-उन कर्मों का क्षय या क्षयोपशम करके आगे बढ़े। पहले गुणस्थान से १२वें क्षीण मोह तक के सभी गुणस्थानों में एक मात्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम एवं क्षय करने की ही साधना है। मोहनीय कर्म के अवान्तर भेद उनकी प्रकृतियों के आधार पर अनेक बताए गए हैं। उन प्रकृतियों का क्षय या क्षयोपशम करने से मोहनीय के वे आवरण हटते जाएंगे और आत्मा के गुण प्रकट होते जाएंगे। मिथ्यात्व हटते सम्यक्त्व होगा। कषायों की अवस्थाएं हटते निष्कषाय समता भाव प्रकट होगा। विषय वासना की वृत्ति हटते ही आत्मा निर्विकारी निर्वेदी बनेगी। हास्यादि हटते ही

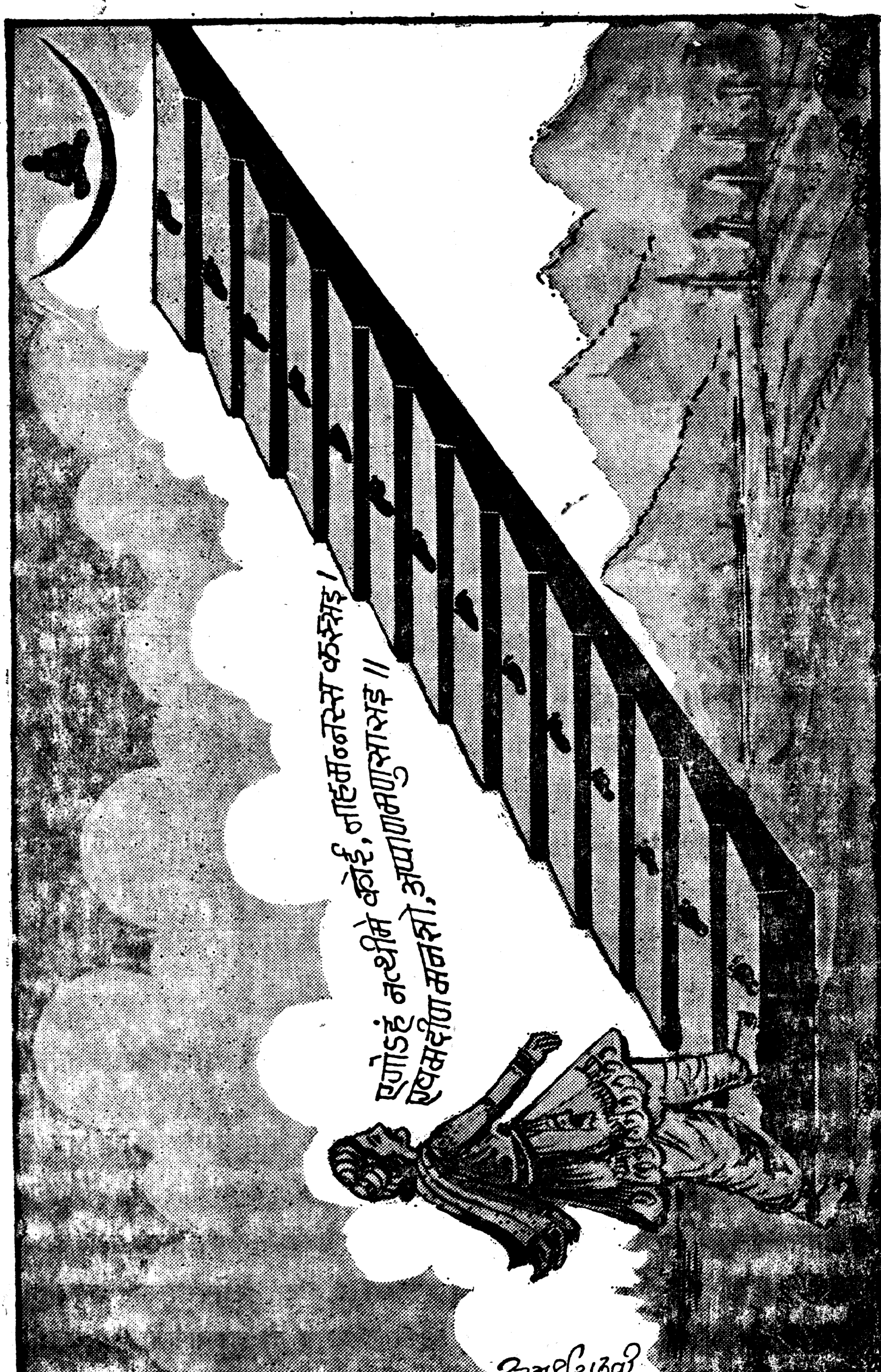
एगोऽहं नत्थीमे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवमदीण मणसो, अप्पाणमणुसासइ ॥

आत्मा शान्त-स्थिर बनेगी। इस तरह अन्त में सर्वथा मोहनीय कर्म का समूल संपूर्ण क्षय (नाश) हो जाने से "वीतरागता" का महान गुण प्राप्त हो जाएगा। यह अन्तिम प्रक्रिया बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानक के अन्त में होती है। वीतरागता की प्राप्ति यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। वीतरागता की प्राप्ति और मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के बाद शेष ३ घाती कर्मों का क्षय तो क्षण मात्र, पल भर में हो जाता है। ज्ञानावरणीय आदि तीनों का क्षय सर्वथा सम्पूर्ण रूप से हो जाता है।

(१) मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से – वीतरागता गुण की प्राप्ति (२) ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से अनन्त ज्ञान गुण की प्राप्ति (३) दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से—अनन्त दर्शन गुण की प्राप्ति (४) अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से–दानादि अनन्तलब्धि–शक्तियों की प्राप्ति।

इस तरह केवलज्ञान यह आत्मा का अनन्त ज्ञान गुण होते हुए भी सिर्फ एक ज्ञानावरणीय कर्म मात्र के ही क्षय से नहीं उत्पन्न होता है परन्तु चारों घाती कर्मों के सर्वांश रूप से सम्पूर्ण प्रकार से सर्वथा क्षय होने से प्राप्त होता है। अतः वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन, एवं अनन्तलब्धिशक्ति ये चारों गुण जो कि अनन्त स्वरूपात्मक हैं वे सभी प्रकट होते हैं। सिद्ध होते समय आठों कर्मों का क्षय होता है लेकिन केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए पहले चार कर्मों का क्षय होना आवश्यक है अतः चार मुख्य घाती कर्मों के क्षय होने से आधे सिद्ध तो यहीं हो गये, शेष चार कर्म जो कि अघाती हैं अतः उनको क्षय करने में ज्यादा परिश्रम नहीं होगा, जितना इन चार घाती कर्मों को क्षय करने में लगता है।

यह अप्रतिपाती-अभेद ज्ञान है

"केवलमिगविहाणं"—यह केवलज्ञान अभेद रूप है। अर्थात् इसके कोई भेद नहीं बनते हैं। जैसे कि पहले के चार ज्ञानों के २८ (या ३४०), १४ या १२, ६, २ इत्यादि क्रमशः प्रथम चार ज्ञान के जो प्रकार और भेद-प्रभेद होते हैं उसी तरह केवलज्ञान के कोई भेद-प्रभेद या प्रकार नहीं होते हैं। यह एकाकी, अकेला, अभेदस्वरूप, अनुपम एवं अद्वितीय है। न तो केवलज्ञान की उपमा किसी के साथ दी जा सकती है, अतः यह अनुपम है। न ही केवलज्ञान के जैसा दूसरा कोई ज्ञान है अतः इसे अद्वितीय ज्ञान कहा गया है। यह अनन्तज्ञान है।

प्रतिपाती अर्थात् उत्पन्न होकर पुनः नष्ट हो जाए, चला जाए वैसा। ठीक इसके विपरीत अप्रतिपाती = अ निषेधार्थक + प्रतिपाती = अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, आकर पुनः चला न जाए वैसा। अतः अन्य ज्ञान प्रतिपाती है जबकि केवलज्ञान अप्रतिपाती अर्थात् एक बार प्राप्त होने के बाद पुनः कभी भी न जाने वाला —शाश्वत अर्थात् सदाकाल ही रहने वाला है। शाश्वत का अर्थ ही यह है कि सदा काल-अनन्त काल तक रहने वाला। शाश्वत या अनन्त कहने से या अप्रतिपाती कहने से केवलज्ञान की अविनाशीता सिद्ध होती है अतः इसे अविनाशी ज्ञान कहते हैं।

इसे अनन्त ज्ञान कहने के दो प्रयोजन है। एक तो नहीं है अन्त जिसका, (न अन्त = अनन्त) ऐसा अनन्त। अर्थात् एक बार यह ज्ञान हो जाने के बाद इसका पुन अन्त कभी नहीं होता अतः केवलज्ञान को अनन्त ज्ञान कहते है। यह अनन्त की कालवाची व्याख्या हुई। अतः काल की दृष्टि से किसी भी काल में केवलज्ञान का अन्त (नाश) नहीं होता है इसलिए अनन्तज्ञान कहलाता है। परन्तु अनादि-अनन्त नहीं, सादि-अनन्त कहा जाएगा। अनादि से तो यह अर्थ होगा कि जिसकी आदि ही नहीं है ऐसा अनादि परन्तु केवलज्ञान अनादि नहीं है। आत्मा अनादि-अनन्त शाश्वत द्रव्य जरूर है। परन्तु चार प्रकार के घनघाती कर्मों का क्षय आज सर्व प्रथम बार ही हुआ है और केवलज्ञान जीव ने पहली बार ही प्राप्त किया है अतः इसे अनादि न कहते हुए सादि कहा है। सादि अर्थात्—"आदि सहितमिति सादि" आदि के साथ जो उत्पन्न होता है वह सादि। अनादि-अनन्त भूतकाल बीतने के बाद भी आत्मा ने जब सर्व प्रथम बार ही चारों घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है तब से ही उसकी आदि-अर्थात् शुरूआत प्रारम्भ है, पहले से नहीं, अतः केवलज्ञान सादि कहलाएगा। परन्तु भाविकाल की दृष्टि से विचार करने पर उसका अन्त कभी भी नहीं होता है अतः अनन्त कहलाएगा। इन दोनों शब्दों एक साथ एकत्र करने पर केवलज्ञान सादि अनन्त कहलाता है।

अनन्त की दूसरी व्याख्या में समस्त ब्रह्माण्ड स्वरूप लोकालोक के पदार्थ अनन्त है, द्रव्य अनन्त है, गुण अनन्त है, तथा द्रव्यों की पर्यायें अनन्त है, काल

अनन्त है। अनन्त काल में एक-एक जीव या अजीव द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायें बदल चुकी है। इतना ही नहीं यहां तक कहा गया है कि—"अनन्त धर्मात्मकं वस्तु" अर्थात् वस्तु अनन्त धर्मवाली है। ऐसी वस्तुएं भी जगत् में अनन्त हैं। एक-एक वस्तु के अनन्त धर्मों को पहचानने के लिए अपेक्षाएं भी अनन्त हैं। जीव भी अनन्त हैं और एक-एक जीव के अध्यवसाय-भाव तथा भवादि भी अनन्त है इन सब अनन्त की अनन्तता को जाननेवाला सर्वज्ञ-केवलज्ञानी का ज्ञान भी अनन्त ज्ञान है। अतः इस ज्ञान को अनन्त ज्ञान कहते हैं। ऐसा अनन्तज्ञान-केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर भगवान देशना देते हैं। कहा है कि—

केवलाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे।
ते भासइ तित्थयरो, वइ-जोगसुयं हवइ सेसं ॥८२६॥

श्री विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि—(ऐसे) केवलज्ञान के द्वारा पदार्थ और अर्थ जानकर उसमें जो कहने योग्य है उसे ही तीर्थंकर भगवान (केवली-सर्वज्ञ) कहते हैं। यह बोलना उनके लिए वचन योग है, परन्तु शेष सभी के लिए श्रुत स्वरूप है। अब विचार किया जाय कि ऐसे अनन्त स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले तीर्थंकर मृषावाद या असत्य वचन कैसे कहेंगे? जबकि एक तरफ राग-द्वेष-मोह-कषायादि का सर्वथा नाश हो गया है अर्थात् असत्य या विपरीत कथन के जो कारण है राग-द्वेषादि उनका ही जब सर्वथा क्षय या नाश हो गया, तो फिर असत्य बोलेंगे कैसे? विपरीत कथन कैसे करेंगे? कारण के बिना कार्य कैसे बनेगा? क्योंकि असत्य सेवन के प्रमुख कारणों में क्रोध, मान, माया, लोभ तथा भय, हास्यादि गिने गये हैं। अब वे ही नहीं हैं अतः प्रभु वीतरागी हैं। पापकर्मादि संसक्त जितने भी दोषादि हैं उनका अभाव होने से कहा गया है कि—"**अष्टादश दोषवर्जितो जिनः**" अठारह दोष रहित जिन भगवान होते हैं। अब दोषों के सर्वथा क्षय से उनसे आच्छादित जो गुण थे वे प्रकट हो गये हैं। राग-द्वेषादि दोष थे और वीतरागतादि गुण हैं। एक तरफ वीतरागता का महान् गुण प्रकट हो गया जो सर्व दोषों की निवृत्ति का सूचक और दूसरी तरफ सर्वज्ञता का गुण भी प्रकट हो गया, अर्थात् मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से वीतरागता की प्राप्ति बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानक के अन्त में तेरहवें गुणस्थानक में प्रवेश करते ही केवलज्ञानादि की प्राप्ति हो जाती है। शेष तीन घाती कर्म—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय,

(३) अन्तराय कर्म-इन सबके क्षय हो जाने से अनन्त केवलज्ञान, अनन्त केवलदर्शन, तथा अनन्त दानादि लब्धियां एवं अनन्त शक्ति आदि प्राप्त हो जाते हैं

शुक्लध्यान में केवलज्ञान

ध्यान का वर्गीकरण→

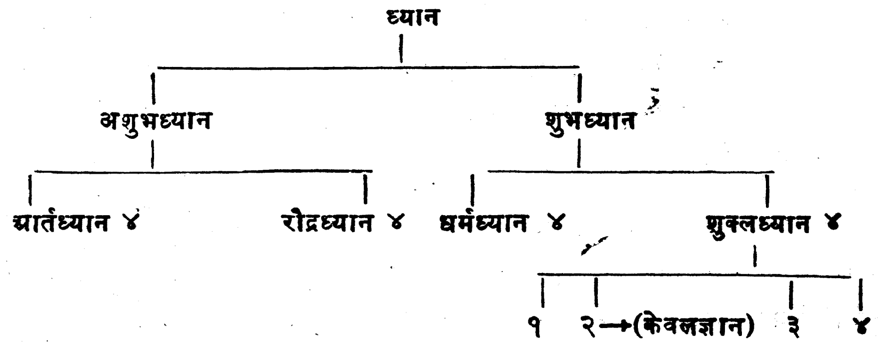

इस तरह ध्यान का विभाजन किया गया है। अशुभ के आर्त और रौद्र ध्यान की विचारधारा को छोड़कर आत्मा जब शुभ ध्यान में प्रवेश करती है, तब सर्वप्रथम धर्म-ध्यान में प्रवेश करती है। उसके चार चरणों में से गुजरती हुई आत्मा शुक्ल ध्यान में प्रवेश करती है। क्रमशः आगे बढ़ती हुई आत्मा ध्यान की विचारधारा को सूक्ष्म से सूक्ष्मतम करती जाती है। प्रत्येक ध्यान के चार-चार अवान्तर भेद दर्शाये गये हैं। शुक्लध्यान के चार भेदों में प्रथम के दो भेद पसार करने के बाद तीसरे भेद में प्रवेश करते ही जीव को यहीं केवलज्ञान—केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। यहीं चारों घनघाती कर्मों का क्रमशः क्षय हो जाता है और आत्मा वीतरागीवंज्ञस-सर्वदर्शी बन जाती है। फिर तेरहवें गुणस्थानक—"सयोगी केवली" के पद पर आरूढ आत्मा वर्षों तक नहीं, सदा के लिए केवली-सर्वज्ञ ही रहती है।

भगवान महावीर स्वामी को—केवलज्ञान

चरम तीर्थपति परमात्मा महावीरस्वामी ने ३० वर्ष की यौवनावस्था में महाभिनिष्क्रमण करके चारित्र स्वीकार किया। आगारी-घरबारी में से अणगारी-साधु-त्यागी-तपस्वी बनें। एकाकी विहार करते हुए १२॥ वर्षों तक घोर तपश्चर्या की एवं भारी उपसर्ग सहन किये। कठोर अप्रमत्त भाव की साधना के अन्त में

१२।। वर्ष की समाप्ति के अन्तिम काल में वैशाख सुदी दशमी के दिन चौथे प्रहर की संध्या के समय शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिकासनस्थ अवस्था में स्थिर बैठे एवं मनोयोग से शुक्लध्यान की अवस्था में चिन्तन की धारा को प्रथम से दूसरे चरण में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम करते जा रहे थे। क्षपकश्रेणी में आरूढ़ प्रभु कर्मों का सर्वथा क्षय करने की प्रक्रिया में लीन थे। उसी क्रम से मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय करके वीतरागता प्राप्त की। अब शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण से तीसरे चरण की ओर अग्रसर होते ही शेष तीनों घाती कर्मों का क्षय होते ही महावीरस्वामी को अनन्तवस्तुविषयक अनुपम अनन्त केवलज्ञान – केवलदर्शन प्राप्त हुआ। श्री वीरप्रभु केवली-सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बने।

केवलज्ञान प्राप्ति की यही प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से भूतकाल में अनन्त आत्माओं को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है और भविष्य में भी इसी प्रक्रिया से गुजरते हुए ही केवलज्ञान प्राप्त होगा। अतः कैवल्य की प्राप्ति का यही एक मात्र राजमार्ग है। दूसरा विकल्प ही नही है। चाहे यह केवलज्ञान तीर्थंकर भगवान को हो या चाहे हमारे जैसे सामान्य-साधारण व्यक्ति को हो, या किसी पुरुष को या चाहे किसी स्त्री को हो। जिस किसी को भी हो, परन्तु होगा इसी राजमार्ग की प्रक्रिया से। अन्य विकल्प ही नहीं है।

स्त्रियों को भी केवलज्ञान हो सकता है

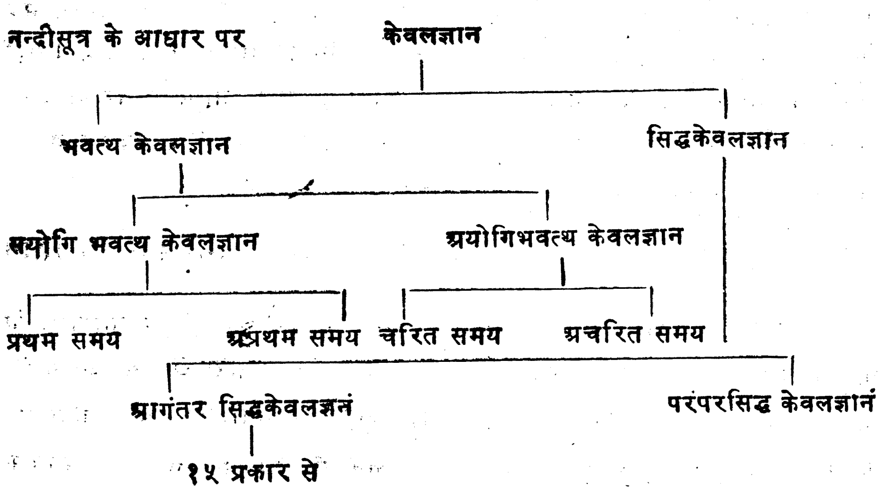

(१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थंकर सिद्ध, (४) अतीर्थंकर सिद्ध (सामान्य केवली आदि), (५) स्वयंबुद्ध सिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, (७) बुद्धबोधित सिद्ध, (८) स्त्रीलिंगसिद्ध, (९) पुरुषलिंग सिद्ध, (१०) नपुंसकलिंग सिद्ध, (११) स्वलिंग सिद्ध, (१२) अन्यलिंग सिद्ध, (१३) गृहिलिंग सिद्ध, (१४) एक सिद्ध और (१५) अनेक सिद्ध ।

जिण-अजिण-तित्थऽतित्था, गिहि-अन्न-सलिंग -थी-नर--नपुंसा ।
पत्तेय-सयंबुद्धा, बुद्धबोहिय इक्कणिक्का य ।। (नवतत्त्व)

—जीवविचार प्रकरण में "सिद्धा पनरस भेया"—अर्थात् सिद्ध १५ प्रकार से होते हैं । यह जो बात कही गई है वही नन्दीसूत्र आगम के उपरोक्त पाठ से समझी जाती है । अणन्तर सिद्ध केवलज्ञान के १५ भेद नन्दीसूत्र में तथा नवतत्त्व प्रकरण की उपरोक्त गाथा में गिनाए गए हैं, जिसमें ८वें भेद पर स्त्रीलिंग सिद्ध, ९वें भेद में पुरुषलिंग सिद्ध आदि भेद गिनाए हैं । यह शास्त्रीय प्रमाण है और भी अनेक शास्त्रों में प्रमाण मिलता है ।

ज्ञान शरीर को नहीं आत्मा को होता है

सामान्य तर्क बुद्धि के आधार पर भी सोचा जाय तो ज्ञान शरीर का गुण नहीं है, आत्मा का गुण है, अतः ज्ञान शरीर को नहीं, परन्तु आत्मा को होता है । जो जिस द्रव्य का मूलभूत गुण होता है, वह उसी में आच्छन्न रहता है और आवरण के क्षय के बाद उसी में प्रकट होता है । शरीर पुद्गल जन्य पौद्गलिक है और पुद्गग के गुणों में वर्ण-गंध-रस-स्पर्शात्मक ही प्राधान्य रूप से रहते हैं । आत्मा जड़ नहीं है । पुद्गल जन्य पौद्गलिक भी नहीं है । अतः आत्मा में वर्णादि के गुण रहने संभव नहीं है । आत्मा चेतन द्रव्य है । ज्ञानादि गुणवान् है अतः आत्मा में ही ज्ञानादि गुण मूलभूत रूप से रहेंगे और प्रकट होंगे ।

आत्मा नामकर्मानुसार जिस किसी भी जाति या जन्म में जैसा भी कैसा शरीर धारण करे, चाहे वह एकेन्द्रिय का हो विकलेन्द्रिय का हो या पंचेन्द्रिय का हो, परन्तु आत्मा के स्वरूप में कोई फरक नहीं पड़ता । शरीर तो आत्मा के रहने के लिए मात्र आधारभूत स्थान है । आत्मा आत्म स्वरूप के दृष्टिकोन से सभी एक सरीखी-एक समान है । चाहे महावीरस्वामी की आत्मा हो या चाहे हमारी आत्मा हो या चाहे हाथी-घोड़े-पशु-पक्षी की हो या चाहे कृमि-कीट-पतंग की हो, सभी की आत्मा आत्म द्रव्य के दृष्टिकोण से एक जैसी ही है; अतः चाहे स्त्री हो या पुरुष हो सभी की आत्मा आत्मद्रव्य के रूप में एक सरीखी है । आत्म स्वरूप में कोई भेद

नहीं है। जो कुछ भेद है वह शरीर में है। शरीर नामकर्मानुसार बनता है। जिस जीव के जैसे नामकर्म हो, और अपने-अपने कर्मानुसार जिस जीव ने जैसा शरीर निर्माण किया हो, तदनुसार जीव को वैसा शरीर मिलता है। इस कर्मसत्ता के आधार पर एक आत्मा को स्त्री शरीर मिला है और एक जीव को पुरुष का शरीर मिला है। भेद मात्र शारीरिक है। स्त्री शरीर के अंगोपांग उसके योग्य और पुरुष शरीर के अंगोपांग भिन्न है। शरीर रचना का भेद या अंगोपांगों का भेद, यह भेद कोई आत्म-स्वरूप में भेद निर्माण नहीं करता है। मोहनीय कर्म के वेद मोहनीय कर्मानुसार स्त्रीवेद-और पुरुषवेद आदि की अवस्था विशेष है। परन्तु इससे आत्मा में कोई भेद नहीं पड़ता। आत्मा के ज्ञानादि गुण वे ही होते हैं तथा ज्ञानादि आत्मा के गुण हैं। अतः वे प्रकार के कर्मों के क्षय से जब प्रकट भी होंगे तब आत्मा में ही प्रकट होंगे—शरीर में नहीं। अतः ज्ञान के भेद में जब चार ज्ञान स्त्री को हो सकते हैं तो पांचवां केवलज्ञान भी स्त्री को होगा ही।

दूसरी बात यह भी है कि देह भेद और वेद के भेद भी कहां तक रहते हैं? आत्मा गुणस्थानों की श्रेणी में जब आगे बढ़ती है और क्षपकश्रेणी में ९वें अनिवृत्ति बादर गुणस्थानक पर आने के बाद तो अथाग पुरुषार्थ से कर्मों का क्षय करती हुई आत्मा कषायों के साथ नोकषाय एवं वेद मोहनीय का भी क्षय करती है। अतः स्त्री वेद और पुरुष वेद ये सभी वेद मोहनीय नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थानक पर नष्ट हो जाते हैं। उसके बाद स्त्री-पुरुष का भेद ज्ञान ही नहीं रहता और न ही वह देह भेद की दृष्टि या वेद की दृष्टि कुछ भी नहीं रहता। तथा केवलज्ञान तो तेरहवें सयोगी केवलीगुणस्थानक पर जाकर होता है। फिर स्त्री या पुरुष के देह का प्रश्न ही कहां रहा? सामान्य तौर पर आज भी देखने पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि कई स्त्रियां ज्ञानादि क्षेत्र में काफी आगे हैं। पुरुष के समकक्ष तो क्या उससे भी आगे के क्षेत्र भी साध लिए हैं। अतः स्त्री को केवलज्ञान नहीं हो सकता और स्त्री मोक्ष में नहीं जा सकती, यह सब कपोल-कल्पित मिथ्या बातें हैं। शास्त्र भी इस विषय में भूतकाल के कई प्रमाण देता है—"थीसिद्धा चंदणा पमुहा" स्त्री देह से सिद्ध बनने वालों में चंदना—(चंदनबाला) आदि कइयों के नाम हैं। भगवान महावीरस्वामी की प्रथम शिष्या चंदनबाला साध्वी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में गई। तथा उनको मिच्छामिदुक्कडं देकर खमाती हुई उनकी शिष्या मृगावती साध्वी भी केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गई—"अतित्थसिद्धा य मरुदेवी"–अतीर्थ सिद्ध के भेद में मरुदेवी माता का नाम प्रमुख रूप से आता है। भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी भी अनित्य एकत्व भावना का चिंतन करती हुई—इसी प्रक्रिया के राजमार्ग से क्षपकश्रेणि पर चढ़कर चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में गई।

वर्तमान चौवीशी के २४ भगवानों में १९वें श्री मल्लीनाथ भगवान जो जन्म से मल्लीकुमारी के रूप में स्त्री देहधारी ही थे। कर्म संयोगवश देह स्त्री का मिला। परन्तु संसार का त्याग करके दीक्षा लेकर कर्मक्षय की महान साधना करके इसी राजमार्ग की प्रक्रिया से चारों घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर बने। श्री मल्लीनाथ भगवान का चरित्र शास्त्रों में सर्वत्र बिना किसी मतभेद के एक सरीखा आता है। इस तरह शास्त्रों में स्त्री-देहधारी केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाने वाले एक-दो ही नहीं, सैकड़ों दृष्टान्त व नाम आते है।

चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों के अपने-अपने काल में उनके द्वारा स्थापित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ में साध्वियों की संख्या साधुओं की अपेक्षा ज्यादा ही रही है। तथा सभी तीर्थंकर भगवन्तों के परिवार में से कई साध्वीयां केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में गई हैं। यह संख्या भी काफी बड़ी है। उपरोक्त शास्त्र प्रमाण देखने से यह सिद्ध होता है कि अनेक स्त्रियों ने तीर्थंकरों के शासन काल में चारित्र धर्म अंगीकार करके दीक्षा लेकर चारों घनघाती कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके अन्त में सर्वथा कर्मरहित होकर मोक्ष प्राप्त करके सिद्ध बने। संक्षेप में उपरोक्त वर्णन स्त्री के केवलज्ञान पाने के विषय में किया। विशेष जानने की जिज्ञासावालों को रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमंजरी, शास्त्रवार्तासमुच्चय, सन्मतितर्क प्रकरण तथा कर्मग्रन्थ आदि कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से पढ़कर जिज्ञासा संतुष्ट करनी चाहिए। अत: स्त्री का केवलज्ञान पाना और मोक्ष में जाना, स्त्री मुक्ति आदि तथा केवली भुक्ति आदि के विषय में आसानी से समझ में आ जाएंगे। सूर्यप्रकाशवत् एक बात तो स्पष्ट ही है कि केवलज्ञान आत्मा का विषय (गुण) है, शरीर का नहीं। शरीर को ज्ञान नहीं होता आत्मा को ही होता है। अत: केवलज्ञान को स्त्री शरीर या पुरुष शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा से संबंध है। और स्त्री हो या पुरुष सभी का आत्म द्रव्य स्वरूप एक जैसा ही है तथा गुण-स्थानक की क्षपकश्रेणि में चढ़नेवाली सभी आत्माएं कर्मक्षय करती हुई तथाप्रकार के कर्मों का क्षय करती हुई एक सादृश्य अवस्था को प्राप्त कर लेती है और केवलज्ञान कर्मक्षय जन्य ही है, अत: क्षायिक अवस्था में ही प्राप्त होता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति के प्रसंग

(१) **भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान**—भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती को आरीसा भुवन में अनित्य भावना का चिन्तन करते हाथ की मुद्रा (अंगुठी) के निमित्त प्रसंग पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।

(२) **बाहुबली को केवलज्ञान**—भगवान ऋषभदेव के दूसरे पुत्र बाहुबली को युद्ध के मैदान में दीक्षा लेकर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े हुए बारह मास बीत जाने के

बाद जब बहन साध्वीयां ब्राह्मी-सुंदरी ने "वीरा मारा गज थकी उतरो, गज चढे केवल न होय रे" ये शब्द कहे। ये शब्द सुनकर सावधान बने बाहुबलीजी प्रभु के पास वंदनार्थ जाने के लिए पैर उठाते हैं इतने में ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

(३) **कुरगडु महात्मा को केवलज्ञान**—राजपाट का त्याग करके दीक्षा लेकर साधु बने हुए कुरगडु महात्मा क्षुधावेदनीय के तीव्र उदय से तपश्चर्या नहीं कर सकते थे। आहार-भोजन नित्य करना ही पड़ता था। एक दिन आहार में चावल और गुड़ का पानी ऐसा ही कुछ लाकर गोचरी साथी बड़े मुनि भगवन्तो को दिखाई। साथी अन्य मुनिगण मासक्षमण (१ महिने के उपवास) की तपश्चर्या कर रहे थे। उन्हें कुरगडु मुनि का नित्य भोजन करना पसन्द नहीं था। अतः थोड़े क्रोधावेश में आकर कुरगडु मुनि के लाए हुए आहार में थूंक दिया। फिर भी कुरगडु मुनि महात्मा एक तरफ जाकर बैठकर उसी आहार का सेवन करने लगे, और उसमें भी कफ-श्लेष्म मिश्रित उसी आहार के ग्रास को सर्वप्रथम खाने लगे। मन में तपश्चर्या न करने का बड़ा भारी दुःख था। पश्चाताप की धारा में आहार की क्रिया चलती रही और आत्मा शुद्ध अध्यवसाय की धारा में क्षपकश्रेणि पर चढ़ गई। ध्यानानल की ज्वाला में घाती कर्म की सभी प्रकृतियां जल कर भस्म हो गई। आत्मा पर से अनादि के कर्म के आवरण टल गए और महात्मा केवलज्ञान पा गए। वीतरागी-केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बन गए।

लग्न मंडप में केवलज्ञान—पृथ्वीचन्द्र केवली के चरित्र में शंख और कलावती के भव से लेकर २१ भवों का वर्णन किया गया है। अन्तिम भव में जबकि पृथ्वीचन्द्र-गुणसागर बने हुए हैं तब लग्न मण्डप में बैठे है, हस्त-मिलाप हुआ है। लग्न के फेरे अग्नि के सामने लगाए जा रहे हैं लग्न कराने वाला विप्र "सावधान" के शब्दों का बार-बार प्रयोग करता जा रहा है। यह सारा चित्र आंखों के सामने खड़ा हो गया। पूर्व संस्कारों से सुसंस्कृत आत्मा जागृत हो गई, लग्न के ही प्रसंग को ध्यान की साधना का क्षेत्र बना दिया। बाहरी स्वरूप से लग्न की क्रिया चलती रही और दूसरी तरफ अन्तर क्रिया में आत्मा सहज ध्यान की कक्षा में चढ़ गई। आत्म स्वरूप का ध्यान तीव्र बनते ही क्षपकश्रेणि पर चढ़ गए और तीव्र ध्यानानल में कर्म जल जलकर चकचूर होते जा रहे थे और देखते ही देखते महात्मा प्रथ्वीचन्द्र को केवलज्ञान प्रकट हो गया। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए। लग्न के वरराजा सर्वज्ञ वीतरागी बन गए।

कपिल केवली—भगवान महावीर स्वामी ने अपनी अन्तिम देशना में कपिल केवली के कथानक का जिक्र किया है। विप्र कुल का कपिल छोटी आयु में अभ्यासार्थ पण्डित के घर गया था। श्रीमन्त शेठ के यहां किये गए भोजन के प्रबन्ध के कारण प्रतिदिन भोजनार्थ जाते कपिल का दासी पुत्री से प्रेम हो गया। प्रेम का संसार

ग्रागे चलते दासी पुत्री गर्भवती बनी। ग्राजीविका की चिन्ता में सलाह मिलने पर कपिल राजा के राजमहल में प्रभात काल में ही पहुँच गया। संरक्षको ने पकड़कर राजा के समक्ष उपस्थित किया। पूछे जाने पर कपिल ने सारी हकीकत यथार्थ सत्य बता दी। कपिल के निष्कपट निर्दोष सत्य को जानकर राजा बहुत ही प्रसन्न हो गया ग्रौर कहा मांगो तुम्हें जितना मांगना हो उतना मांगो। मैं देने के लिए तैयार हुँ। बोलो कितना तोला सोना चाहिए ? २ मासा या १० मासा या सौ, हजार या लाख ? कितना चाहिए ? यह सुनकर कपिल ने कहा हे राजन् ! कृपया मुझे थोड़ा समय दीजिए, मैं सोचकर फिर ग्रापके पास ग्राकर मांग लूंगा। इतने भोले-भाले भद्रिक कपिल को देखकर राजा को दया ग्राई। ग्रच्छा आओ-फिर सोचकर ग्राना।

कपिल नजदीक के उद्यान में गया ग्रौर एक वृक्ष के नीचे बैठकर सोचने लगा कितना मांगु ? २ मासा ? ग्ररे। २ मासे से क्या होगा ? क्या १० मासा ? ग्ररे ! इतने से क्या होगा ? क्या १०० या हजार ? ग्ररे ! जिंदगी कैसे निकलेगी ? लोभ का कहीं ग्रन्त नहीं है, आखिर कपिल ने अपनी पूर्वावस्था पर विचार किया, ग्ररे ! मैं क्या लेकर आया था ? मेरा क्या है ? बस आत्म चिन्तन का निमित्त मिल गया। पाप के पश्चाताप की धारा शुरू हो गई। कर्म क्षय करने के लिए ग्रात्मा क्षपक-श्रेणि पर ग्रारुढ़ हो गई। धर्मध्यान से शुक्लध्यान की धारा में आगे बढ़ते हुए ग्रध्यवसायों की विशुद्धी ग्रौर गुणस्थानों पर ग्रग्रसर होते ही कपिल ने मोह के बंधनों को तोड़कर वीतरागी होकर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। सर्वज्ञ बने हुए कपिल केवली को देवताग्रों ने ग्राकर मुनिवेष ग्रर्पण किया। पृथ्वीतल पर विचरते हुए महात्मा कपिल केवली के उपदेश से सैकड़ों भव्यात्मा केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए।

गुरु–शिष्य को केवलज्ञान—ग्राचार्य चन्डरूद्राचार्य ग्रपने क्रोधी स्वभाव के कारण गांव के बाहरी उद्यान में ग्रकेले रहते थे। प्रसंगवश गाव में शादी की बरात ग्राई। लग्न मुहूर्त को अभी समय था कि इतने में वरराजा के साथ उनके मित्र उद्यान में ग्राए। हंसी-मजाक करते हुए महात्मा के सामने वरराजा को आगे करते हुए मित्रों ने कहा महाराज इसको दीक्षा देकर साधु बना दीजिए। हंसी-मजाक कर रहे थे कि महात्माजी ने वरराजा को बालों से पकड़कर खिचकर, देखते ही देखते सिर के सभी बाल खिच लिये। सिर का मुंडन हो गया। सभी मित्र भाग गए। शादी के लिए ग्राए हुए वरराजा ने सोचा ग्ररे ! ग्रब तो लग्न मंडप में जाना उचित नहीं है चलो साधु बन ही गए हैं तो ग्रब चारित्र पालन करूं ! सोचा बरात वाले लोग ग्राकर शोरगुल मचाएंगे। महात्माजी को भली-बूरी सुनाकर मारपीट करेंगे। यह सोचकर शिष्य ने गुरुजी से कहा – ग्रब जल्दी भगकर जाना पड़ेगा। गुरु ने कहा अरे ! मुझे तो दिखाई नहीं देता है, ग्रौर अभी शाम हो चुकी है, थोड़ी देर में रात्री

हो जाएगी। अतः क्या करें। समझदार शिष्य ने गुरु को कन्धे पर बैठाया और रात्रि में ही जंगल के मार्ग में चल पड़े। रात के अन्धेरे में दिखाई न देने पर भी चलते ही जा रहे शिष्य का पैर ऊँची-नीची भूमि के खड्डे आदि में गिरते ही कन्धे पर बैठे हुए गुरु क्रोधित होकर डण्डा मारते थे। ताजे लोच किए हुए सिर पर डण्डा लगते ही खून निकलने लगा। फिर भी नूतन मुनि शिष्य बड़ी अच्छी समता में मन स्थिर करते हुए वेदना को गौण करके भी चलते रहते थे, और गुरु के डण्डे पड़ते रहते थे। ऐसे प्रसंग में भी क्रोध न करके क्षमा समता की उच्चतम भावना में स्थिर मुनि देहभान भूलकर आत्मचिन्तन की धारा में चढ़ गए। पाप दोषों को नष्ट करती हुई आत्मा गुणस्थान श्रेणि में आगे बढती हुई क्षपकश्रेणि पर आरुढ होकर शुक्लध्यान की धारा में केवलज्ञानी बनी। केवलज्ञान में तो समस्त लोकअंलोक का क्षेत्र बिना आंख के खोले ही दिखाई देने लगा। अब अच्छी तरह चलने वाले शिष्य को प्रभात में खून से लथपथ देखकर गुरु नीचे उतरकर पश्चाताप की धारा में क्षमा-याचना करते हुए शिष्य को खमाने लगे। सही दिल से पश्चाताप था। अतः पश्चा-ताप की बढती हुई धारा में पापकर्म सभी धो गए। सर्वथा सर्व पापों का क्षय होते ही क्षपकश्रेणि में स्थिर गुणस्थानों पर आगे चड़ते हुए गुरु को भी केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त हुआ। गुरु शिष्य दोनों ही वीतरागी-केवली-सर्वज्ञ बने।

प्रसन्नचन्द्रऋषि को केवलज्ञान—संध्या के समय राजमहल के झरोखे में बैठकर रंग-बिरंगी बादलों को देखकर प्रथम खुश हुये और बाद में रात्रि के अंधेरे में डरावने लगने वाले उन्हीं बादलों को देखकर परिवर्तनशील असार संसार की असारता को समझकर राजा प्रसन्नचन्द्र ने राज-पाट, वैभव और परिवार आदि सब कुछ छोड़कर दीक्षा अंगीकार करके साधु बने। श्मशान में एक पैर पर खड़े रहकर दोनों हाथ ऊंचे उठाकर कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर राजर्षि, पुत्र के साथ शत्रु राजा के युद्ध की विचारधारा में खो गये। मानसिक रूप से वैचारिक युद्ध में चढ़े हुए राजर्षि एक-एक करके अनेक तीर फैंकते गये। अन्त में मुकुट फैंकने के लिए लेने के हेतु से सिर पर हाथ रखा, और सिर केशलोच से मुंडित देखकर एकाएक भान आया। राजर्षि सावधान हो गये। मानो स्वप्न में से जगे हुए को स्थान की क्षणिकता दिखाई दी और राजर्षि मानसिक पापकर्म को धोने के लिए पश्चाताप की धारा में चढ़े। ध्यानानल ने पापकर्मों की ढ़ेर सारी राशि को देखते ही देखते जलाकर भस्म कर दिया। क्षपकश्रेणि में आरूढ़ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को चारों घनघाती कर्मों का क्षय होते ही केवलज्ञान-केवलज्ञदर्शन प्राप्त हुआ। वीतरागी सर्वज्ञ बने हुए महात्मा सदा के लिए मोक्ष में सिधाये।

मरुदेवी माता को केवलज्ञान—भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के बाद प्रभु की माता-मरुदेवी वृद्धावस्था में तीव्र मोहदशा में डूबकर विलाप करती थी। रात-दिन

रोना और कल्पान्त करना वह भी यहां तक कि आंख की पलकें तक भी सूज गई थी। इस तरफ युगादिदेव ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, यह समाचार लेकर दूत चक्रवर्ती भरत के द्वार पर आया। भरतजी मरुदेवी माता को हाथी की अंबाडी पर बैठाकर सर्वज्ञ प्रभु के दर्शनार्थ चले। समवसरण के समीप आते ही देव दुन्दुभी सुनते ही ऐसी अपूर्व दिव्यध्वनि जो कभी भी नहीं सुनी थी, उसे सुनकर मरुदेवी माता मोहदशा को दूर करके अनित्य, एकत्वादि भावना में स्थिर होकर ध्यान की धारा में गुणस्थानकों की श्रेणी में आगे बढ़ी। मोहपाश का बन्धन टूटते ही वीतरागता की अवस्था में आकर अन्य ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय तथा अन्तराय आदि कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके अन्तःकृत् केवली बन कर मोक्ष में गये। सदा के लिए संसार से मुक्त हुए।

गौतमस्वामी को केवलज्ञान—चरमतीर्थाधिपति श्रमण भगवान महावीर स्वामी के आद्य गणधर प्रथम प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने ५० वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण करके ३० वर्ष छाया की तरह साथ रहकर प्रभु की सेवा की। निर्वाण समय समीप आते ही वीर प्रभु ने गौतम की प्रशस्तभाव की रागदशा को दूर करने हेतु उन्हें देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने के लिए भेजा। तथा मध्य रात्रि में श्री महावीरप्रभु निर्वाण पाकर मोक्ष में पधारे। प्रातः प्रभातकाल में वापिस लौटते हुए गौतमस्वामी ने लोको के मुख से समाचार सुने हुए और वे भी विषाद के गर्त में गिर गये। वीर-वीर करके विषाद के घेरे में घिरे हुए गौतम को विलाप करते हुए एकाएक वीर शब्द के दो अक्षर "वी" से—वीत और "र" से—"राग" इस तरह "वीतराग" शब्द स्मृति पटल पर आया। वीतराग शब्द बोलते ही वीतरागी की राग-द्वेष रहित अवस्था का स्वरूप आंख के सामने दिखाई दिया। बस इस आलंबन ने गौतमस्वामी को क्षपकश्रेणि पर चढ़ा दिया। गुणस्थान की श्रेणि में आगे चड़ते हुए एक दिन के तीव्र रागी गौतमस्वामी ने राग-मोहपाश के बंधन तोड़े और स्वयं वीतरागी बने। क्षण में ही घनघाती कर्मों का क्षय होते ही गौतमस्वामी केवलज्ञानी बने। कार्तिक सुदि १ की प्रभात में ही प्रभु के अनुगामी के रूप में केवली बन कर १२ वर्ष कैवल्य की देशना से धरा को पावन करके मोक्ष पधारे।

पन्द्रहसौ तापसों को केवलज्ञान—प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ अष्टापद पर ऊपर जाने हेतु १५०० तापस प्रथम–द्वितीय सोपान पर ही आसन एवं तप करके लब्धि प्राप्त करने में लगे थे। ऐसे में जब गौतमस्वामी स्वलब्धि से सूर्य की किरणों को पकड़कर अष्टापद पर ऊपर गये और रात्रि वहाँ निवास कर चैत्यवंदन आदि करके लौट रहे थे तब १५०० तापसों ने उन्हें देखा। देखते ही वे सभी गौतमस्वामी के साथ चले। गौतमस्वामी ने स्वलब्धि से अंगूंठा पात्र में रखकर सभी को परमान्न (खीर) का पारणा कराया। तथा सभी तापसों को साथ लेकर गौतमस्वामी प्रभु के पास

समवसरण की एक तरफ चले मार्ग में समवसरण का वर्णन करते हुए तापसों को प्रभु के अतिशय समझा रहे थे । यह सुनते १५०० तापसों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ । दूसरे ५०० तापसों को समवसरण देखते ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ । और तीसरे ५०० तापसों को प्रभु के दर्शन करते ही केवलज्ञात प्राप्त हुआ । इस तरह १५०० तापस केवलज्ञानी सर्वज्ञ बनकर समवसरण में जाकर केवली की पर्षदो में बिरजमान हूए ।

इस तरह आगम शास्त्रों में केवलज्ञान प्राप्त करने वाले अनेक महापुरुषों के प्रसंग सुवर्णाक्षरों में लिखे गये हैं । भूतकाल में अनन्त आत्माएं केवलज्ञान पाकर मोक्ष में बिराजमान हुई हैं । मोक्ष में जाने के लिए केवलज्ञान आवश्यक है । अनिवार्य है । मोक्ष में जाने के बाद केवलज्ञानादि नहीं पाये जाते हैं, परन्तु सब कुछ यहीं पाकर ही मोक्ष में जाया जाता है । इस तरह अनन्त आत्माएं केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गई हैं । यहां तो उदाहरणार्थ संक्षिप्त मात्र नाम निर्देश करते हुए कुछ प्रसंग दिखाये गये हैं, जिससे केवलज्ञान का स्वरुप समझ में आये । भरत क्षेत्र की वर्तमान अवसर्पिणी काल में अन्तिम केवली के रूप में श्री जंबुस्वामी सर्वज्ञ बनकर मोक्ष में गये हैं । परन्तु महाविदेह क्षेत्र में सदा ही मोक्षमार्ग खुला है । आज भी वहां से केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जा रहे हैं । अन्त में प्रभु के चरणों में हम भी यही प्रार्थना करें कि—

पारसनाथ पसाय करी म्हारी पूरो उम्मेद रे,
समयसुन्दर कहे हुं पण पामु ं, ज्ञाननु ं पांचमु ं भेद रे ।

समयसुन्दर मुनि ने अपने स्तवन में अन्त में जाकर प्रार्थना करते हुए कहा है कि—हे पार्श्वनाथ भगवान ! कृपा करके मेरी मनोकामना पूरी करो और वह यह है कि—मैं भी ज्ञान का पांचवां भेद अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करूं । पांच ज्ञान में पांचवां भेद जो केवलज्ञान है' उसे हम सभी प्राप्त करें । जगत की सभी सम्यग् दृष्टि भव्यात्माएं केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पधारें यहीं शुभ मनोकामना ।

समाप्त

श्री राजमलजी सिंघी के पिताजी-माताजी

सतत नवकार मंत्र एवं सामायिक आराधक सरलस्वभावी
साधार्मिक वात्सल्य से ओतप्रोत

स्व. श्री हिम्मतमलजी सा. बी.ए., एल एल.बी.
से. नि. असिस्टेन्ट रजिस्ट्रार (सेक्रेट्री) जोधपुर सरकार
जन्म : १-१-१८८८ ☐ निधन : १३-५-१९७०

धर्म प्रेमी, मैत्री भावपूर्ण

स्व. श्रीमती मीराँबाई साहिबा
जन्म : सन् १८९० निधन : पोष सुदी ५ दिसम्बर, १९७९

श्री महावीर जैन

卐 श्री सुमतिनाथाय नमः 卐

प. पू. मुनिराज श्री अरुणविजयजी महाराज

आदि मुनि मण्डल के

वि० सं० २०४३ के चातुर्मास में

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ जयपुर द्वारा

सर्व प्रथमबार आयोजित

चातुर्मासिक रविवारीय धार्मिक शिक्षण शिविर

में चल रही

रविवासरीय सचित्र व्याख्यानमाला

卐 "कर्म की गति न्यारी" 卐

विषयक प्रवचन शृङ्खला की प्रस्तुत यह पाँचवी पुस्तिका

स्व. श्री मूलचन्दजी सा., हिम्मतमलजी सा. एवम् श्रीमती मीरांबाई सा.

की स्मृति में

उनके सुपुत्र ज्ञान प्रेमी, सतत नवकार मंत्र

आराधक बारहव्रतधारी

श्री राजमलजी सिंघी बी.ए.एलएलबी, डिप.एलएसजी

सेवा निवृत्त विभाग राजस्थान

पुत्र वधु सुन्दर, डा. प्रकाश एम.डी.

पौत्र वधु मृदु त, विशाल, गौरव

श्री जैन श्वताम्ब | पागच्छ संघ, जयपुर ने

मुद्रित करवाकर प्रकाशित की है ।

मुद्रक : अजन्ता प्रिण्टर्स, घी वालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर-302003